प्रकाशक

अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल

पो० नरेन्द्र (पटना)

मुद्रक—हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

दो शब्द

हम अपने प्रकाशन का श्रीगणेश वियोगीजी के इस 'पथ-विपथ' उपन्यास से कर रहे हैं। वियोगीजी उन साहित्यिकों में हैं, जिन्होंने हमारे साहित्य के प्रत्येक अंग की सेवा की है, कर रहे हैं और आशा है करेंगे। यह उपन्यास, जैसा कि हम समझते हैं, उनका एक सफल प्रयोग है। साधारणतः उपन्यास कथा के रूप में ही लिखे जाते हैं और उस कथा का कहनेवाला लेखक ही होता है। किन्तु, इस उपन्यास में जितने पात्र हैं, सभी अपनी-अपनी कथा अपने ही कहते हैं। किसी दूसरे के मुँह से तीसरे की कहानी सुनना जितना भला लगता है, उससे कहीं सुन्दर लगता है अपनी कहानी यदि स्वयम् कहें। हिन्दी में उपन्यास लिखने का जो नियम है, उससे यह भिन्न प्रकार का है जिसका प्रयोग वियोगीजी साहसपूर्वक कर रहे हैं। वे लिखना जानते हैं; अतः सफलता उनकी अपनी चीज है।

'पथ-विपथ' एक सामाजिक उपन्यास है और इसका कथा-भाग बहुत ही सीधा, किन्तु मनोवैज्ञानिक है। आश्चर्यजनक घटनाओं का बीच-बीच में उत्थापन करके पाठकों के मन को उलझाये रखना आसान है। चालाक उपन्यास-लेखक इस उपाय से अपने पाठकों को उलझाये रखता है। किन्तु, वियोगीजी ऐसा नहीं करते। वे उन घटनाओं को, जो हमारे जीवन में प्रतिक्षण घटित होती रहती हैं, साफ और सीधी रीति से अपने उपन्यासों में रख देते हैं। वे 'रोमांस' को शायद पसन्द नहीं करते। उनके बहुत-से उपन्यासों को पढ़ लेने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। आज का हिन्दी-पाठक बहुत आगे बढ़ चुका है

और अब वह 'चन्द्रकान्ता युग' को पार करके मनोवैज्ञानिक युग में पहुँच रहा है। हमारे यहाँ दूसरी भाषाओं से अनूदित जो उपन्यास आते हैं, उनमें यद्यपि हम अपनी बातें नहीं पाते, फिर भी उनकी वर्णन-शैली कुछ ऐसी चुटकीली होती है कि हिन्दी-पाठकों में उनका मान है। हिन्दी के उपन्यास-लेखक पहले 'शैलीवाद' पर विशेष ध्यान देते थे। स्व० चंडी प्रसाद 'हृदयेश' का 'नन्दन-निकुंज' इसी कोटि का कथा-साहित्य है। वर्तमान साहित्यधारा में फिर परिवर्तन आ गया है और अब 'शैली' का महत्व अपनी प्रधानता के पद से वंचित हो गया है। यद्यपि वियोगीजी कवि होने के कारण कवित्वपूर्ण शैली का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं, जैसा कि हम व्यक्तिगत रूप से जानते भी हैं; किन्तु उन्होंने उपन्यासों के लिये साफ और सीधी शैली को ही अपनाया है, जो एक कठिन और दुष्कर कार्य है। भाषा की दृष्टि से वियोगी-साहित्य का विश्लेषण करना जरा कठिन है। 'आर्यावर्त' जैसे महाकाव्य के कवि से 'पथ-विपथ'-जैसी पुस्तक की आशा साधारणतः नहीं की जा सकती। कल्पना और अलंकारों की जो होड़ 'आर्यावर्त' में है वह उनके किसी भी उपन्यास में सम्भव नहीं हो सकता है; किन्तु वियोगीजी ने इस उपन्यास को औपन्यासिक की तरह लिखा है—महाकवि की तरह नहीं, जो वे हैं।

'पथ-विपथ' में भिन्न-भिन्न चरित्रों का महासमन्वय है। इस उपन्यास का एक पात्र दूसरे से मेल नहीं खाता; सभी अपने-अपने ढंग के अनोखे हैं। एक बात जो इस उपन्यास में है, वह है [illegible] का वियोगीजी द्वारा तिरस्कार। '[illegible]' का वर्णन करना शायद वियोगीजी पसन्द नहीं करते जो उचित भी है। वे भारतीय मर्यादाओं का आदर करते हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि वियोगीजी मानव की उन्हीं कमजोरियों के रूप में ही [illegible] हैं। '[illegible] संयमपूर्ण चरित्र-चित्रण' का योग

बहुत-से नामी-नामी औपन्यासिकों में पाया जाता है। मानव जैसा हो नहीं सकता वैसा उसका चित्रण करना कोई सफल तात्पर्य नहीं रखता। जो जैसा है वैसा ही चित्र उसका पूर्ण चित्र है न कि जो जैसा त्रिकाल में भी नहीं हो सकता वैसा चित्रण उचित है। 'पथ-विपथ' का एक पात्र, जो प्रधान पात्र के रूप में है 'विपथ' पर चलता है और प्रधान पात्री 'अनुराधा' एक बहुत ही खतरनाक औरत है। न तो वियोगीजी ने अपने पात्र को फिसलने से रोका और न 'अनुराधा' को ही उन्होंने सीता-सावित्री के रूप में चित्रित किया है। शरत् बाबू का 'चरित्रहीन' आपमें बहुतों ने पढ़ा होगा, जिसके विषय में हम कुछ कहने का साहस करते हैं। शरत् बाबू का 'चरित्रहीन' वस्तुतः महाचरित्रवान है। उसके रहने का तरीका यद्यपि संदेहास्पद है, किन्तु उस संदेह में सत्य की गुंजाइश नहीं। हम उसकी विशेष चर्चा नहीं करते; किन्तु वियोगीजी शायद ऐसा पसन्द नहीं करेंगे। जहाँ पर गिरा जा सकता है, वहाँ पर वियोगीजी के पात्र गिरते हैं और उठने की जगह वे उठ खड़े होते हैं। यही है वियोगीजी के इस उन्पयास की विशेषता।

हमें विश्वास है कि यदि आपका अपनापन मिलता रहा तो हम वियोगीजी की और भी कई चीजें आपके सामने उपस्थित करेंगे। बिहार के इस नूतन प्रकाशन की यह प्रथम भेंट आप स्वीकार करें।

—प्रकाशक

पथ-विपथ

सतीश

१

उच्च शिक्षा की बात तो बहुत दिनों से सुनता आ रहा हूँ किन्तु जब मैं भी उच्च शिक्षा के पहाड़ पर चढ़ने का प्रयत्न करने लगा तो मुझे ऐसा लगा कि इस पहाड़ पर सिर के बल चढ़ा जाता है। मेरे पैर बहुत ही मजबूत थे किन्तु उनकी मजबूती मेरे किसी काम न आयी। यदि सिर मजबूत होता—तात्पर्य यह है कि भाग्य में बल होता, तो मैं किसी से भी पीछे नहीं रहता।

पिताजी ने अपने गाढ़े पसीने की कमाई को पानी की तरह बहते देखा और माँ आँखें खोल कर अपने घर में दरिद्रता को देखती रह गयी। मैं कालेज में छैला बना रंगरलियाँ करता रहा। जीवन का प्रवाह किस ओर बहेगा इसकी चिन्ता न तो मुझे थी और न लम्बी नाक और सूखे हुए चेहरे वाले हमारे अध्यापकों को। वे मानो अपने सिर का भार

उतार रहे थे और हम मानों बाप की कमाई पर जिन्दगी के मजे लूट रहे थे। इस तरह हम विद्यार्थियों और पढ़ाई से कोई मेल न था। हम दोनों दो ओर जा रहे थे और अध्यापकों का ध्यान अपने कोट, टाई, पतलून, कमीज और चश्मे की ओर ही अधिक था।

समय तो किसी की प्रतीक्षा में रुका रहता नहीं। वह इधर से आकर उधर चला गया।

मैं अपने सहपाठियों में शायद सब से अधिक मूर्ख और गरीब था क्योंकि मैं आनन्द-विनोद के अवसर पर प्रायः उदास-सा रहता था।

एक रात को मेरे एक सहपाठी ने जिसका नाम बनमाली था मुझ से कहा, "मित्र ! सुना है कि कुछ ऐसे व्यक्ति हमारे दल में हैं जिनका यहाँ न रहना ही उचित है।"

मैं बोला—"शायद तुम मेरी ओर इशारा कर रहे हो। निश्चय ही मैं इस स्थान के उपयुक्त नहीं हूँ। मैं भी सोचता हूँ किन्तु क्या करूँ।"

वह इधर-उधर देख कर बोला—" अरे! यह बात नहीं है। तुमने समझा नहीं। मैं कह रहा हूँ कुछ खतरनाक व्यक्ति इस कालेज में भरती हो गये हैं। बिल्कुल खतरनाक। वे किसी दिन हमें जहन्नुम की हवा खिलवाये बिना न मानेंगे।"

बनमाली को मैं जानता हूँ। वह बंगाल का रहने वाला था और साथ ही बहुत सफल विद्यार्थियों में गिना जाता था। बनमाली कभी भी किसी से विशेष सम्पर्क स्थापित नहीं करता था। वह प्रायः अपने आप में ही लिप्त रहता था। कालेज की लड़कियों के प्रति भी उसका व्यवहार बहुत ही मितभाव का होता था। यह एक आश्चर्य की बात थी। क्योंकि लड़कियों के पीछे नाचते फिरने में प्रत्येक विद्यार्थी

गौरव का अनुभव करता था और अपने मन से गढ़ कर कुछ विद्यार्थी तो किसी-किसी लड़की के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी कहानी सुनाया करते थे कि सुनकर मन में लोभ उत्पन्न हो जाता था। अपने को तृप्त करने के लिये कुछ विद्यार्थी किसी रूपवती लड़की के नाम से जाली-पत्र लिखकर,भी अपने मित्रों को दिखलाकर यह प्रमाणित करते थे कि अमुक लड़की उस पर जी-जान से फ़िदा है। बनमाली इन सारी बातों की जानकारी रखता था और अपने को दूर रख कर ही सुखी रहता था। उसकी इस तटस्थ प्रवृत्ति को उसके साथी घृणा की दृष्टि से देखते थे और मन-ही-मन उससे डरते भी थे। कहने का तात्पर्य यह कि वह अपने साथियों के लिये भार था, शृंगार नहीं। बनमाली को लेकर जीवित रहा जा सकता था, किन्तु जीवन निर्वाह के लिये वह न था। उसने जब एक दिन मुझ से कुछ खतरनाक व्यक्तियों के कालेज में घुस आने की बात कही तो मैंने उसकी इस बात को महत्त्व नहीं दिया। मैं नहीं जानता था कि हमारी तरह रहनेवाला और जीवन व्यतीत करनेवाला एक साधारण मानव खतरनाक कैसे हो सकता है। चोर डकैत खतरनाक हो सकते हैं। शेर, भालू खतरनाक जीव हैं। मानव के लिये मानव कैसे भय का कारण बन सकता है यह रहस्य मैं बहुत दिनों तक ठीक-ठीक नहीं समझ सका।

यह घटना १६२५ या १६३० की है, जब मैं कालेज की अन्तिम परीक्षा की पढ़ाई समाप्त करने की धुन में था और पिता जी लगातार पत्र लिख लिखकर मुझे अत्यधिक विकल कर रहे थे। वे एक तो मेरी पढ़ाई से ऊब उठे थे और दूर तक सोचने से यह भी पता चलता था कि उनकी अर्थ-शक्ति का भी अन्त हो चला था। तालाब का जल जब धीरे-धीरे सूखने लगता है तो उस के भीतर की सारी कुरूपता ऊपर से ही दिखलाई

पड़ने लग जाती है। कीचड़ और उसमें कुलबुलानेवाले जोंक को देखकर हम घिना उठते हैं। हम भूल जाते हैं कि यह जो बड़ा-सा गन्दक दिखलाई पड़ रहा है सो वस्तुतः कुछ मास पहले एक सुन्दर सरोवर था जिसके स्वच्छ जल पर तटस्थ वृक्षों की छाया पड़कर स्वप्न-लोक का सृजन होता था।

ठीक इसी तरह धीरे-धीरे अपना सब कुछ शेष करके मेरे पिता जी भी तालाब के सूखे हुए खोल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे और उनके भीतर की कुरूपता मैं साफ-साफ देखने लग गया था। उनकी प्रकृति भी चंचल हो गई थी और झुंझलाहटभरी भाषा में वे जब पत्र लिखते थे तो मेरा मन भी खीझ उठता था। पहले भी वे नाराज होकर लिखा करते थे किन्तु उनकी नाराजगी के भीतर से अपनापन और कोमलता झाँकती थी। किन्तु जब उन में रिक्तता आ गई तो उनकी बातें मेरे मन में भी तिक्तता पैदा करने लगीं। बनमाली एक दिन फिर कहने लगा—"वह देखो...सामने जो लड़का जा रहा है वह बहुत ही खतरनाक है। उसके और साथी भी हैं, किन्तु वे इतने बुरे नहीं हैं।"

मैंने देखा कालेज के फाटक पर पहुँच कर एक लड़का रुका जो दूसरे वर्ष की कक्षा में था। देखने से वह बहुत-ही कोमल और गम्भीर जान पड़ता था। उसकी तुलना में बनमाली का चेहरा ही शैतान की तरह लगता था। मैं बरामदे पर खड़ा था और बाहर की ओर देख रहा था। बनमाली ने कहा, "अरे! यह देखो, उसका दूसरा साथी आया। यह भी बड़ा दुष्ट है। सभी...भयंकर हैं, एक-से-एक बढ़कर।"

मैं सोचकर बोला—"तुम व्यर्थ व्यग्र हो। मैं तो इनमें जरा भी भयंकरता नहीं पाता। न इनके दाँत मगर-मच्छ की तरह हैं और न इनका चेहरा ही साँप की तरह है। ये बेचारे सीधे-सादे विद्यार्थी....।"

वनमाली खिन्न होकर मेरा मुँह देखने लगा। सचमुच मैंने उन लड़कों को ध्यान से देखा और मेरा मन यह जानने को मचलने लगा कि वनमाली के कथनानुसार यदि वे सचमुच खतरनाक हैं तो उनमें कौन सी ऐसी बात है जिससे वनमाली इस निष्कर्ष तक पहुँचा है।

मैं वनमाली से बोला—"कारण बतलाओ, तब न समझूँ कि उन्हें तुम किस आधार पर...... ।"

वनमाली रूखे स्वर में बोला—"तुम्हारे दिमाग में घुन लग गया है। मैं तो यह चाहता था कि तुम्हें सावधान कर दूँ, किन्तु निराश हो गया।"

वनमाली इस तरह इधर-उधर देख कर बोल रहा था मानो वह किसी ऐसे विषय पर प्रकाश डाल रहा हो जिसका सम्बन्ध सारे संसार के विकाश या विनाश से है। मान लिया कि वह सौम्य लड़का खतरनाक है, किन्तु इस वनमाली के प्राण क्यों कातर हो रहे हैं, यह रहस्य उस समय मेरे लिये रहस्य ही बना रहा।

जिस तरह पृथ्वी पर धूलि के स्तर पर स्तर पड़ते जाते हैं और पहली स्तर बहुत नीचे रह जाती है, उसी तरह बातों के स्तर भी होते हैं। पहली बात दब जाती है और बिल्कुल नई बात सामने रह जाती है। कुछ दिन बीत जाने पर वनमाली की वह बात मैं प्रायः भूल ही गया किन्तु मुझे आश्चर्य है कि वनमाली भूल न सका। वह एक दिन मेरे कमरे में आया और चुपचाप बैठ कर इधर-उधर चोर की तरह देखने लगा। उसकी नाचती हुई-सी दृष्टि मुझे बुरी लगी किन्तु मैं चुप लगा गया। मेरे घर से पत्र आया था और उस पत्र में कुछ ऐसी बातें थीं जिनके चलते मेरा मानसिक संतुलन गड़बड़ा गया था। वनमाली का उचक्के की तरह इस तरह ताकझाँक करना मुझे बुरा न लगता यदि मेरा मन

स्वस्थ होता। अपनी तेज दृष्टि से मेरी छोटी कोठरी की प्रत्येक चीज को अच्छी तरह टटोल लेने के बाद बनमाली बोला—"आखिर मैं भी तो एक ही छँटा हुआ हूँ भाई! उस लड़के का पता लगा ही लिया। मैंने जैसा अनुमान किया था वह सही निकला।"

इतना बोल कर उसने मेरे कान में जो कुछ कहा, वह सुन कर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। मैं गाँव का रहने वाला इतना छतीसापन उस समय नहीं जानता था। जब जानकारी बढ़ी और मैं स्वयं जब एक बेबूझ पहेली बन बैठा तो मुझे विश्वास हो गया कि जिस तरह शरीर का हाड़ बढ़ कर ही सींग के रूप में ढोरों के सिर पर प्रकट हो जाता है उसी तरह जब शरीर में बुद्धि बहुत बढ़ जाती है तो वह आपदा के रूप में प्रकट हो जाती है। जिस तरह उस सींग को ठेल-धकेल कर भीतर नहीं घुसाया जा सकता उसी तरह उस बढ़ी हुई बुद्धि को भी ठेलठाल कर भीतर घुसा देना असंभव है।

आज मैं समझने लगा हूँ कि बनमाली क्यों पल्ले झाड़ कर उन लड़कों के पीछे पड़ गया था किन्तु तब बनमाली की कातर बातें सुनकर हँसी आती थी और कभी-कभी झुझँला भी उठता था।

मैं बोला—"आखिर तुम इतने व्यग्र क्यों हो? वह लड़का खतर-नाक है तो इसकी चिन्ता कालेज के अधिकारियों को होनी चाहिये न कि हम सबको। मेरी विनय है कि तुम अपना काम करो और दूसरों की चिन्ता में घुलघुल कर जान गँवाने से बाज आ जाओ।

बनमाली बहुत ही समझदार की तरह बोला—"यह बात गलत है मित्र! यह तो हमारा सार्वजानिक कर्त्तव्य है कि समाज को आपदा से बचावें। केवल सीमित और व्यक्तिगत कर्त्तव्य को निभाते जाना जीवन को पंगु बना देना है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं यहीं

अध्ययन करने आया हूँ। मेरा प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये अपने लक्ष्य की प्राप्ति किन्तु सामाजिक कर्तव्य भी तो सिर पर है, जिसकी उपेक्षा करके मैं धर्महीन हो जाऊँगा।"

यह सच्ची बात है कि हमारे कोष में बहुत से ऐसे अमूर्त्त शब्द आ गये हैं जिन्हें हम बिना समझे काम में लाते हैं। इसी तरह हमारे सोचने के तरीके में भी अमूर्त्तता ने अपना अधिकार जमा लिया है। हम साफ तरीके से सोचने की कला भूल गये हैं और शिक्षा के नाम पर जिस तरह की विचारधारा हमारे भीतर बुद्धि या ज्ञान के नाम पर प्रवाहित हो रही है उसने हमारे सारे के सारे जीवन को ही अमूर्त्त बना डाला है। आज तक हमारे विचार बदले नहीं। बनमाली सामाजिक कर्त्तव्य और न जाने क्या-क्या बोल कर चुप लगा गया, यह मुझे आज याद नहीं है किन्तु उसने मेरे दिमाग के प्याले में थोड़ा सा विष मिला दिया और मैं भी अमूर्त्त भावनाओं की ओर झुक कर सोचने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु बनमाली-जैसी सफलता तो मुझे आज तक नहीं मिल सकी।

दिन का अन्त हो चुका था और मैं चुपचाप मैदान की ओर टहलता हुआ जा रहा था। अपने विचारों में तल्लीन-सा जब मैं बहुत दूर निकल गया तो दिन बिल्कुल ही समाप्त हो चुका था। पच्छिम क्षितिज पर हल्की सी ललाई मात्र शेष बची थी। अपने शेष धन को दिन सँजो कर रखना चाहता था किन्तु रात उसे हौले-हौले उदरस्थ करती जाती थी। लौटते-लौटते अधिक विलम्ब हो गया। दूर से खड़े वृक्ष घनीभूत अन्धकार की तरह दिखलाई पड़ते थे। मैं यह सोच कर चकित हो गया कि प्रकाश में इतना बल नहीं है कि वह किसी को अपने में एकाकार कर ले। अन्धकार में रंग-रूप का बिलगाव नहीं रह जाता।

संसार की सभी विभिन्न वस्तुओं का एकीकरण अन्धकार में ही हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने यमलोक को तमसावृत माना है। विचारों के उतार-चढ़ाव पर पैर रखता हुआ-सा मैं डगमगाता हुआ चल रहा था। अभी मुझे सड़क तक पहुँचने के लिये मैदान का एक झाड़ियों-वाला हिस्सा पार करना था। मैं भी रुक-रुककर चल रहा था। मैं देख रहा था, मेरे सामने की पहाड़ी है वह भी केवल काले रंग की है और जो कुछ देख रहा हूँ सब का रंग काला है। दिन को, रंगों की जो विविधता मैं देखता था, उसका अन्त हो चुका था। विविधता को समाप्त करके तम मानों सारे संसार पर शासन कर रहा हो। मैं चलता-चलता हठात् एक झाड़ी के निकट पहुँच कर रुक गया। उस झाड़ी के भीतर से दो व्यक्तियों के बोलने की भनक आ रही थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस घोर जनहीन उपत्यका में भी इन भले आदमियों ने अपने आप को इतना छिपा कर क्यों रक्खा है। मैं रुका और स्वाभाविक उत्सुकता के कारण खड़ा होकर सुनने का विफल प्रयास करने लगा। बातचीत इस रूप में हो रही थी। दोनों व्यक्ति मानों अपने वार्तालाप का उप-संहार कर रहे हों।

"..........आखिर वे क्या कहते हैं।"

"मैं उनके मतामत की चिन्ता नहीं करता।"

"तो आखिरी कदम के लिये तुम तैयार हो?"

"नहीं।"

"शायद तुम्हारा विश्वास अभी अडिग नहीं है।"

"यह गलत आरोप है। मैं अपनी जगह पर स्थिर हूँ किन्तु....।"

"हमारे कोश में किन्तु, परन्तु आदि वाहियात शब्द हैं।"

"क्षमा करो! बात यह है कि बाहर के मित्रों की राह तो देखनी ही होगी।"

"और उस छोकरे का क्या होगा ?"

"वनमाली के सम्बन्ध में तुम कह रहे हो न।"

"हाँ।"

"वही जो हमने तै कर लिया है।"

"धन्यवाद !"

मैं घबरा उठा किन्तु वहाँ ठहरना उचित न समझकर जब आगे बढ़ा तो दो व्यक्ति तेजी से आये और मेरी बगल से निकल गये। अन्धकार में मैं उन्हें देख न सका किन्तु उनकी चाल यह बतला रहा थी वे नवयुवक काफी चुश्त थे। दोनों फ़ौजियों की तरह कदम में कदम मिलाये तीर की तरह इस तरह आगे निकल गये कि मुझे संभल कर देखने का अवसर भी न मिला। मन में नाना प्रकार की शंकाओं का तूफान लिये मैं आगे बढ़ा किन्तु रह-रहकर पैर आपसे आप रुक जाते थे। सिगरेट की तीव्र दुर्गन्ध के साथ वे दोनों अन्धकार में किधर लोप हो गये, मैं प्रयत्न करके भी देख न सका। जब मैं मैदान को पार करके सड़क पर आ गया तो मैंने देखा कि सामने जो पान की दुकान थी उसके सामने वे दोनों खड़े हैं। उत्सुकता मिटाने के लिये मैं भी उस दुकान पर जाकर रुक गया।

दोनों में से एक तो वही लड़का था जिसके विषय में वनमाली की उत्सुकता सीमा पार कर गई थी और दूसरा था,एक अपरिचित नवयुवक जिसकी आँखें साँप की आँखों की तरह गोल और चमकदार थीं। दोनों खड़े होकर शीशा में अपना-अपना मुँह देख रहे थे। मैं क्षण भर रुककर फिर होस्टल की ओर चल पड़ा जहाँ मेरे पिताजी बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे और ऊब रहे थे। मैंने बिजली के स्वच्छ प्रकाश में अपने पिताजी के चिन्ताग्रस्त चेहरे को देखा। साहस नहीं हुआ कि

उनसे घर का समाचार भी पूछूँ। किसी भयंकर कुसंवाद की आशंका से मैं तो मन-ही-मन डर गया। बिजली के प्रकाश में मैंने देखा पिताजी का चेहरा चिन्ताग्रस्त सा है और ललाट पर की रेखाएँ गहरी हो गई हैं। साधारण कुशल प्रश्न के बाद उन्होंने कहना आरंभ किया—"गाँव की हवा बिगड़ गई है और नालायकों का एक गिरोह किसी तरफ से आया है जो तरह-तरह के अवांछनीय उत्पात मचा कर त्रास का सृजन कर रहा है।" उन्होंने मुझे समझाया कि मैं अभी जाने का साहस न करूँ। कालेज बन्द होने वाला था और एकाध सप्ताह के बाद ही मैं घर का राह लेता, किन्तु पिताजी की चितावनी ने मुझे काफी चिन्तित कर दिया। यद्यपि मैं उच्च कक्षा का विद्यार्थी था, तौभी दुनिया की बातों की ओर स्वभावतः मेरा ध्यान न था। जिस गरीबी की मार से कराह कर मेरे पिता जी मुझे शिक्षा दिलवा रहे थे उसकी ओर मेरा विशेष ध्यान था। मैं चाहता था कि किसी तरह भी पढ़ाई समाप्त करके कुछ अर्जन करूँ ताकि पिताजी के अन्तिम दिन तो सुख से व्यतीत हों और उन्हें मेरी पढ़ाई के चलते जितने अकथनीय कष्टों का सामना करना पड़ा है उसका कुछ आंशिक ही सही, परिहार तो हो जाय। मुझे विश्वास था, मैं इतनी सस्ती कामना को लेकर संसार में रहने की इच्छा प्रकट कर रहा हूँ कि मेरी इस छोटी-सी इच्छा की पूर्त्ति में बाधा उपस्थित होने की संभावना ही नहीं हो सकती है। न तो मैं किसी नेता की गद्दी छीनने को उत्सुक था और न किसी कीर्त्तिमान वकील की कीर्त्ति।

मैं पिता जी की बातें सुनता रहा और उन्होंने इन वाक्यों के साथ अपने मन्तव्य को समाप्त किया—"तुम पढ़ने में जी लगाना। सुनता हूँ शहरों में और भी अधिक उत्पात होते हैं। ये सारे उपद्रवी यहीं से

तो जाते हैं। देहात के शान्त वातावरण में ये शहरी न जाने किधर से घुसकर तूफान का समाँ बाँध देते हैं। रघुनाथ जी इन्हें रोकें!"

पिताजी के एक-एक शब्द से लाचारी और कराह प्रकट होती थी। मैंने चाहा कि उन से कुछ और पूछूँ, किन्तु खोजने पर एक भी ऐसा प्रश्न न मिला जिसे रख सकूँ। पिताजी एक दिन ठहर कर जब जाने लगे तो चलते समय उन्होंने कहा, "देखो! यहाँ भी तुम बच कर ही रहना। मैं शहरी जीवन से घिना उठा हूँ। ये बड़े-बड़े बालोंवाले जो चाय की दुकान और सिनेमा को आबाद किये रहते हैं, प्लेग के चूहे हैं। आप तो मरते ही हैं साथ ही जिस घर में मरते हैं, उसे भी ले बीतते हैं। परमात्मा ने इन्हें इसी निमित्त संसार में भेजा है।"

वे चले गये और बनमाली ने आकर फिर मेरे दिमाग का कचूमर निकालना आरम्भ कर दिया—"देखो! कालेज का वातावरण भी विपाक्त हो गया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम सब बिना पतवार की नाव पर चढ़े हुए हैं। अरे! तुम देखते नहीं, ये जो नये छोकरे आये हैं पल्ले सिरे के······।" मैं व्यग्र होकर बोला— "तुमने मुझे पागल बना देने की कसम तो नहीं खाई है। मैं तुम्हारी इन बातों को नहीं समझता। अच्छा हो कि ऐसी अनर्गल पहेली में तुम मेरे दिमाग को मत उलझाओ।"

विस्मय-विस्फारित आँखों से इस तरह बनमाली मेरी ओर देखने लगा मानो वह अपनी दृष्टि की चोटों से ही मेरी हड्डी-पसलियों को तोड़ डालना चाहता हो। एक दीर्घ हुंकार के साथ वह विदा हो गया और मैं भी तरह-तरह की चिन्ताओं के साथ मन-ही-मन उछल-कूद मचाता हुआ रह गया। वह दिन आ गया जब कालेज बन्द हो गया और मुझे पिताजी के एक दूर के, अत्यन्त दूर के, रिश्तेदार के यहाँ डेरा करना पड़ा।

शहर के एक कोने में जहाँ की आबादी बहुत ही घनी और घिनौनी थी वहीं उक्त रिश्तेदार महोदय का एक पुराना दो मंजिला घर था। पतली गली के भीतर वह घर ऐसा लगता था कि नये-नये सुन्दर घरों ने मार-पीट कर उसे अपनी पाँत से खदेड़ दिया हो और वह कुरूप भद्दा घर ऐसी पतली गली में छिपा हो, जहाँ बड़े-बड़े और नये पहुँच ही नहीं सकते हों।

जब मैंने दरवाजे को खटखटाया तो एक चरमराहट के साथ दरवाजा खुला और मेरे पिताजी के रिश्तेदार महोदय बड़ा-सा पेट लिये एकाएक प्रकट हो गये, जिनके शरीर से पके हुए महानारायण तेल की बदबू निकल रही थी। शरीर सूख कर सोंठ-सा हो रहा था तथा कुंभड़े जैसे बड़े सिर पर इने गिने कुछ ही बाल झड़ने को बाकी थे। बड़ी-बड़ी मूँछें और पतली बाँह पर छत्तीसों कोटि देवता के ताबीजों के अतिरिक्त पीर और भूतों के ताबीज भी तरह-तरह के कपड़ों में बँधे थे। काल के प्रतिकूल इतनी बड़ी मोर्चाबन्दी मैंने कभी नहीं देखी थी। परिचय देते ही वे बोले—"तुम हो! चाचा जी कह गये थे। तुम्हारा घर है।" इसके बाद उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा, "आज मैं सनाथ हुआ। तुम मेरे छोटे भाई हो······।"

बीमार रहते-रहते मेरे भाई साहब का हृदय कुछ इतना कातर हो गया था कि बोलते-बोलते हठात् इनका गला भर आता था। इनके पास पैसों की कमी न थी।

मैं घर के अन्दर चला गया और वे दरवाजे बन्द करके मुझे राह दिखलाते आगे-आगे चलने लगे। मजदूर के सिर पर से अपना सामान उठाकर मैंने भीतर रख ही दिया था। एक ही नजर में मैंने देखा, घर बहुत ही पुराना और ऐसा था जिसकी पुताई कभी भी नहीं

हुई थी। ईंटें दाँत खिसोड़-खिसोड़ कर अपनी दयनीयता का परिचय दे रही थीं। घर के दूसरे हिस्से में एक कोठरी मुझे बतलाई गई जो अपेक्षाकृत दूसरी कोठरियों से अधिक साफ और सुन्दर थी। कहने का तात्पर्य यह कि मेरी कोठरी दूसरी कोठरियों की रानी थी, जिसमें रहना मेरे लिये दूभर था। लाचारी थी, क्या करता। मैंने एक बार उड़ती नजर से चारों ओर देखा, घर निर्जन-सा था। मैं यह सोचकर बहुत ही उदास हो गया कि एक बीमार व्यक्ति के साथ मुझे इस नरक में एक डेढ़ मास रहना पड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद कमर पर दोनों हाथ रक्खे मेरे भाई साहब आये और बोले—"चलो! अपनी भाभी से भी परिचय प्राप्त कर लो। वह एक विदुषी स्त्री है और तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी अपनी भाभी के साक्षात्कार से।"

मैं ऊपरले खंड पर गया। मैंने देखा उस घर का ऊपरला हिस्सा जीर्ण होने पर भी साफ, सुन्दर और सँवारा हुआ है। मेरी आँखें एक अधेड़ भाभी को खोज रही थीं जिन्हें भाईजी ने विदुषी कहकर सम्मानित किया था। मेरे भाई साहब की उम्र ५० के ऊपर न थी किन्तु रोग ने उन्हें १०० साल का जरठ बना दिया था।

मैंने देखा धुली हुई धोती पहने एक नवयुवती सामने की एक कोठरी के दरवाजे से अचानक निकली और फिर उलटे पाँवों लौट गई। भाईजी ने पुकारकर कहा—"अनुराधा! यह कोई गैर है? मेरा छोटा भाई है। इसीके सम्बन्ध में उस दिन तुम से चर्चा कर रहा था।"

भाभी सहमी हुई फिर कोठरी के दरवाजे पर आकर खड़ी हो गईं—दिव्य गौरवर्ण, भरा हुआ शरीर और यौवन का तूफान लिए। रूप-सौन्दर्य का क्या कहना!

बनमाली

२

रांड़ के चरखे की बात तो आप सभों ने सुनी होगी। मैं जब अपने जीवन की ओर ध्यान देता हूँ तो मुझे विश्वास हो जाता है कि मेरा सारा जीवन ही रांड़ का चरखा है, जो दिन-रात चलता ही रहता है। बंगाल में पैदा हुआ और हिन्दुस्तान में शिक्षा पाई। इस तरह नाना पथों से होता हुआ जहाँ हूँ, भगवान् करे, वहाँ मेरे सात जन्मों के शत्रु को भी रहने का दुर्भाग्य न हो। मैं एक ऐसी कहानी का बिचला हिस्सा हूँ जिसका आदि-अंत कुछ भी न हो, केवल बीच का ही भाग दुनियां के सामने हो। माना कि मैं खेल के मैदान में बराबर अपने को गलत जगह पर रक्खा, किन्तु देखा है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी तो संसार में हैं जो गलत जगह पर रहते हुए भी सफल हो जाते हैं, अपने भविष्य को लुभावना बना लेते हैं। किन्तु मैं तो बराबर अपना संशोधन

करता ही रह गया, पछताता ही रह गया। दूसरों के धिक्कार और यदा कदा अपने मन का भी धिक्कार सुनता रहा। इस तरह छिः-छिः थू-थू के बीच से होकर जिसे चलने को बाध्य होना पड़े वही अनुभव कर सकता है कि उसका जीवन कितना दूभर हो चुका है। नन्दन-कानन के विहंग तो उस ऊजड़ वन के चित्र हृत्पट पर आँक ही नहीं सकते जिस वन को उल्लू तक ने त्याग दिया है।

यों तो हम बँगालियों का जीवन उग्र राजनीति से आरंभ होकर क्लर्की की कुर्सी पर पहुँच कर समाप्त हो जाता है, किन्तु आतंकवाद और क्लर्की के बीच में भी कुछ है या दोनों को एक महाशून्य जोड़े हुए है, दोनों के बीच में केवल शून्यता ही है। ऐसा तो होना भी नहीं चाहिये। मैंने भी इसी दरिद्र कल्पना को लेकर अपना जीवन आरंभ किया और इस सिद्धान्त को मान लिया कि अच्छा काम भी यदि बुरी नीयत से किया जाता है तो परिणाम बुरा ही प्रकट होता है। नीयत एक ऐसी चीज़ है जो सत्य का साथ देती है। कालेज में पढ़ता हुआ यह मैंने कभी नहीं सोचा कि इस शिक्षा का उद्देश्य क्या है। पिताजी आसाम के चाय इस्टेट के क्लर्क थे और चाचाजी किसी रेलवे कम्पनी के मालबाबू। दोनों ने धर्म इमान को त्याग कर जिस बुरी तरह अर्थ-लाभ किया, यह मुझ से छिपा नहीं है। चाचाजी तीन साल के लिये जेल तो गये किन्तु इतने पैसे घर पर रखकर गये कि उनके जेल जाने के बाद भी मेरी चाची नित्य नये-नये कपड़े पहनती थी और नये-नये गहनों से अपने भद्दे अंगों को सजाती ही रहती थी। किसी को यह चिन्ता नहीं थी कि घर का मालिक जेल भुगत रहा है। जब चाचाजी जेल से लौटे तो सिर मुड़वाकर और पंचगव्यादि का सेवन करके उन्होंने बड़ा नाम कमाया और धार्मिक विचारवालों में उनका बड़ा नाम हो

गया। अपकीर्त्ति के बदले में चाचाजी को सुकीर्त्ति ही मिली तो मैं ने समझ लिया कि चाचाजी का जेल जाना भी उनके व्यवसाय के भीतर की ही एक बात है। अतः कुल मर्यादा भंग होने की बात ही कहाँ उठती है। जो जरा तेज स्वभाव के व्यक्ति थे उन्हें यह बतलाया गया कि बड़े साहब से झगड़ा होने के कारण उन्हें चोरी के अपराध में जेल भेजा गया। अंग्रेजों से लोहा लेने का जो साहसपूर्ण परिचय मेरे चाचाजी ने दिया था, उसका बड़ा बखान हुआ। किन्तु सचाई तो दूसरी ही थी। इन सारी बातों को देख-सुनकर मैंने भी सोच लिया कि बिना कहीं क्लर्की किये सफलता की आशा दुराशामात्र है। वह जीवन नहीं जीवन की खाल है जिसे क्लर्की का सुख न मिला हो। यही कारण है कि बुद्धिमान बंगाली या तो आतंकवाद को पसन्द करता है या क्लर्की को। स्वर्ग नहीं तो एकदम कुंभीपाक। बीच का स्थान हम बंगाली पसन्द नहीं करते। यह हमारा जन्मगत संस्कार है और इसे हम त्याग नहीं सकते चाहे हमें मिट ही क्यों न जाना पड़े। अश्वमेध के घोड़े की तरह या तो हम विश्व-विजय के कारण बनेंगे या महानाश का स्वागत। मध्यवृत्ति हमें पसन्द नहीं है। कालेज का जीवन तो इस दिशा में विशेष प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता किन्तु ज्यों-ज्यों मैं ऊपर पहुँचा मेरा ध्यान दो बातों की ओर गया, कालेज की छोकरियाँ और वे छोकरे जो लुक-छिपकर देशोद्धार की प्रगति में भाग लिया करते थे। लुक-छिपकर कुछ करना मुझे प्रिय था। अतएव दोनों ही बातें मुझे पसन्द आयी क्योंकि दोनों का अनुष्ठान लुक-छिपकर ही होता है। सतीश-जैसा सहायक साथी भी मुझे मिल गया, जिसे रोमांस परखने की या उससे रस लेने की चाह ही नहीं थी। वह पेंसिल की तरह सीधा जीवन व्यतीत करना ही पसन्द करता था, जो एक गधे के

जीवन से कदापि सुन्दर नहीं कहा जा सकता। जैसे गधा विशेष हलचल पसन्द नहीं करता और वेदान्ती की तरह सिर झुकाकर भार ढोया करता है, उस तरह भार ढोते-ढोते एक दिन बिना किसी समारोह के मर जाना मैं पसन्द नहीं करता।

मेरे गाँव में एक तिकड़मी सज्जन रहते थे। आज वे कहीं आश्रम खोलकर लोक-कल्याण का पुनीत कार्य-सम्पादन कर रहे हैं। उक्त सज्जन ने गाँव को कभी भी सुख की नींद सोने का अवसर नहीं दिया। नित्य आन्दोलन और नित्य दंगे-फसाद की तैयारी। आज संगठन करके ग्वालों के टोले पर धावा किया जा रहा है, तो कल किसी बनिये का बहिष्कार हो रहा है। स्वयम् भी एक-न-एक सनसनी पैदा करते ही रहते थे। एक दिन उक्त सज्जन ने एक विधवा बरेठन को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। अखबारों में नाम छपा और जब उसके पति ने कलकत्ते से लौटकर अपनी पत्नी को जूतों से पीटकर सारे गाँव में विप्लव पैदा कर दिया, तो हमारे सज्जनजी चुप लगा गये और अपनी बरेठन पत्नी का उन्होंने त्याग कर दिया। इसके बाद उनकी निगाह पड़ी एक चमारिन दुहिता पर। एक रात को दोनों गाँव से भाग खड़े हुए, और सुना जा रहा है कि दोनों ने मोक्ष का मार्ग अपनाकर संन्यास ले लिया। विज्ञों ने जी खोलकर उनके साहसपूर्ण निर्णय का गुणगान किया और धर्मप्राण व्यक्तियों की निगाहों में उनका मूल्य बढ़ गया। वे प्रातःस्मरणीय हो गये। सुना है, उन दोनों ने एक आश्रम की स्थापना करके, चन्दे के बल पर आज राज्य-सुख भोग रहे हैं। यह है संक्षेप में बलवान जीवन की कहानी; किन्तु यह उल्लू सतीश किसी काम का नहीं है। ऐसी तेजस्विता हिन्दुस्तानियों में नहीं होती।

२

कालेज की छोकरियों में यश प्राप्त करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनका अभाव अपने पास नहीं था। दो-तीन चीजें चाहिए, जिनमें पहला स्थान है छिछोरेपन का। यह छिछोरापन खतरनाक भी होता है और लाभदायक भी। जब मेरा परिचय मिस विभारानी से हुआ तब मैंने देखा कि उसका ध्यान मेरी कमीज की ओर विशेष रूप से था, जो शोख रंग का और कुछ भद्दा-सा था। मैंने उस कमीज का त्याग कर दिया तो मुझे ऐसा लगा कि विभा तृप्त हो गयी। इन छोकरियों का ध्यान फैशन पर ही विशेष रहता है, और ये अपने आपको केवल लुभाने-ललचानेवाली चीज ही समझती हैं। यह सच्ची बात है कि संसार को अब माँ या बहन की आवश्यकता ही नहीं रही। यहाँ चाहिए केवल प्रियतमा, हृदयेश्वरी, और रानी। आज का स्त्री-समाज भी बाजार की माँग के अनुसार इसी तरह की चीज सप्लाई करता है। मैं आलोचना नहीं करता। मुझे तो कभी भी माँ और बहन की जरूरत नहीं रही। घर पर जो एक माँ है, उसी को लेकर चित्त व्यग्र रहता है और यदि गली-गली माँ मिलती रहे, तो दूसरी बात मैं नहीं जानता। मैं तो ऊबकर निश्चय ही आत्महत्या कर लूँ। भगवान बचाये माँ-बहनों के अनावश्यक झुंड से, जिसका काम केवल जीवन को दबा-दबाकर बौना बना देना है। मैं कहूँ चाहे न भी कहूँ, किन्तु हमारे देश से जो आवश्यक माँ बहनों की बिदाई हो गयी, यह कल्याण ही हुआ। इस चर्चा का अन्त यहीं करता हूँ।

विभा के प्रति मेरा खिंचाव जब बढ़ा तो मुझे पता चला कि मुझसे भी पहुँचे हुए अनगिनत मजनू इस कालेज में ही प्रस्तुत हैं। एक नया छोकरा जो आया है, उसका बाप निश्चय ही किसी दुमंजिली तोंदवाले महाजन का गंदा मुनीम होगा। यहाँ आते ही उसने प्रेमसूत्र का पारायण आरंभ कर दिया।

विभा के पिता एक विख्यात पुरुष हैं और धन की भी कमी नहीं है। उन्हें इस बात की चिन्ता सताती ही रहती है कि उनकी कन्या सभ्यता के घुड़दौड़ में सबसे आगे रहे। बस, इतनी ही चिन्ता उस भद्र पुरुष को थी और अपने पितृदेव की मनोकामना पूरी करने में विभा को भी आलस्य न था। यद्यपि उसके पिता···जाने दीजिये इस तरह के कुसंस्कार का प्रसार न हो, वही अच्छा।

रात को जब मैं विभा के कमरे से चला, तो मुझे ऐसा लगा कि मैं संसार से विदा हो रहा हूँ; क्योंकि वहाँ जो दो फौजी अफसर बैठे झख मार रहे थे, उनकी तुलना में मैं बहुत ही हेय दिखलाई पड़ता था। पक्के अमेरिकन जवान। ७ फुट लम्बे और नीली आँखें पिशाच-जैसी। विभा उनके साथ दूध-मिश्री की तरह घुल-मिल गयी थी। सिगरेट की दौड़ चल रही थी, जिससे कमरे का वातावरण बिल्कुल ही दूषित हो गया था। उन गोरों के प्रति मेरे हृदय में जो विफल क्रोध था, उसी के कारण उनकी सिगरेटों का धुआँ मुझे जहरीले गैस की तरह जान पड़ता था, वर्ना तीन-तीन पैकेट सिगरेट तो मैं भी फूँक डालता हूँ।

रास्ते में मैं यही सोचता जा रहा था कि किसी तरह इन गोरों को देश से बाहर निकालना ही परम पुरुषार्थ होगा; किन्तु मैं अनन्योपाय था और मेरी यह कामना कब फलेगी, इसकी संभावना जल्दी न थी। खुली सड़क पर पहुँचकर मैंने घूमकर विभा की कोठी की ओर देखा। यदि आँखों में आग होती तो एक ही दृष्टि से मैं उस कोठी को खाक में मिला देता और संसार को दिखला देता कि आत्मबल किसको कहते हैं।

रात आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी और सड़क जनहीन।

जाड़ा तो ऐसा पड़ रहा था कि शरीर की गाँठ-गाँठ दर्द कर रही थी। इस तरह प्रेम का जब एक अध्याय समाप्त हो गया, तब एक दिन विभा ने मुझसे कहा—"तुम मुझसे नाराज तो नहीं हो?"

उसके इस प्रश्न ने मेरी भावुकता को लात मारकर जगा दिया और मैं रुआँसा-सा होकर बोला—"मैं नाराज क्यों होने लगा; किन्तु··· किन्तु···।" विभा ने मुँह बिचकाकर कहा—"अन्कल्चर्ड!"

मैं इस घृणित शब्द का अर्थ जानता था। एक बार तो लज्जा से सिकुड़ गया; किन्तु फिर अपनी इस कमजोरी को शैतान समझकर मन-ही-मन झल्ला उठा। मैं असंस्कृत हूँ! मैं जिस प्रान्त का निवासी हूँ, वह सारे संसार को आज संस्कृति का दान कर रहा है। और मैं ही हूँ अन्कल्चर्ड···शर्म की बात है। विभा तो लचकती-मचकती चली गयी; किन्तु मैं खड़ा-खड़ा शून्य की ओर इस तरह देखता रह गया, मानो अब धरातल पर मेरे लिये स्थान शेष नहीं बचा और मुझे आकाश में ही आश्रयग्रहण करना चाहिए।

शंकर मेरा सहपाठी था। वह अचानक आकर मेरी बगल में इस तरह खड़ा हो गया, मानो हम दोनों तस्वीर उतरवाने को तैयार हैं। मुझे उसकी यह ढीठ हरकत यद्यपि नहीं रुची, किन्तु लाचार सब कुछ सहना पड़ता है। शंकर बोला—"बाहर के कुछ व्यक्ति आये हैं। उनमें एक तो बहुत ही अनुभवी व्यक्ति हैं। ८ बजे रात को हम उनसे मिलने जायँ तो अच्छा।"

जी में आया कि शंकर को दुत्कार दूँ; किन्तु उत्सुकता ने उकसाया। रात को आठ बजे मैं शंकर के साथ वहाँ पहुँचा, जहाँ वे ठहरे थे।

शहर के अन्तिम हिस्से में जो चाय की दूकान आज भी है, उसी

दूकान के पीछे एक भुतहा घर है। दिन को भी कोई उस ओर नहीं जाता। हम रात को गंदी गलियों को पार करके जब उस घर के दरवाजे पर पहुँचे, तब मेरा मन घबरा उठा। चारों ओर सन्नाटा और दुर्गन्ध। पास ही डोमों की बस्ती थी, जहाँ उस समय शायद खाल भोली जा रही थी। चिराईन्ध गंध ने मेरे दिमाग को बिल्कुल ही सुन्न-सा कर दिया।

शंकर का पिता पुलिस-इन्स्पेक्टर था। स्वामीभक्ति के कारण वह इतना घिना उठा था कि बिना दो-चार अश्राव्य विशेषण जोड़े कोई भी व्यक्ति उसका नाम नहीं लेता। नदिया जिले का वह रहने-वाला था। यों तो कालेज में मेरे मित्रों की कमी न थी; किन्तु शंकर मेरा देशवासी भाई था और उसकी एक-एक बात का मैं महत्त्व देता था।

जिस घर में हम घुसे, वह बहुत ही दयनीय अवस्था में था। मैंने देखा, कुछ छोकरे बैठे प्राणायाम कर रहे हैं और कुछ दंड पेल रहे हैं। कुल मिलाकर ८ नवयुवक होंगे। एक परिपुष्ट शरीर के संन्यासी खड़े होकर व्यायाम करा रहे थे। हमने चरण स्पर्श करने की चेष्टा की, तो संन्यासीजी, जो अधेड़ थे, धीर-गंभीर वाणी में बोले—"बस ठहरो! यह गुलामी का संस्कार है। इस तरह अपने को हीन बनाना उचित नहीं। एक, दो, तीन, चार। हाँ, एक-दो-तीन, बस-बस, अब खड़े हो जाओ।"

प्रणाम करना गुलामी का संस्कार है, यह मैं नहीं जानता था। प्रथम दिन तो इतना ही सीखकर लौटा; किन्तु जब दूसरे दिन गया, तो वहाँ पूरी सभा बैठी थी। कोई पन्द्रह नवयुवक थे और संन्यासीजी का प्रवचन हो रहा था। मानव-जीवन का रहस्य समझाते हुए आप कह रहे थे कि मरने के लिये ही हम धरातल पर आते हैं।

मैं डर गया। मरने के लिये ही तो नहीं आते और जो धन-मान अर्जन किया जाता है, वह कैसे होगा? विभा का स्नेह और क्लर्की की साध कैसे पूरी हो सकेगी? मैं दो-चार दिन बाद देकर प्रायः संन्यासीजी की सेवा में उपस्थित होने लगा। गुप्त तरीके से सारे कारोबार होते थे। साधारण बातों को भी वे इस तरीके से संगीन बना दिया करते थे कि मैं तो अवाक् रह जाता था। अपरिचित सूरतों की संख्या वहाँ बढ़ती गयी और एक दिन ऐसा आया, जब दरबार पूरा भर गया। पचास के ऊपर तो कालेजों के ही नवयुवक थे, जो संन्यासीजी के अनुचर हो चुके थे, जिनमें एक मैं भी था। देशोद्धार की बातें उग्र भाषा में होती थीं और सुननेवाले प्रायः सनक उठते थे। सभी श्रोता बंगाली थे और फिर कुछ कुमारियाँ भी सभा में आने लगीं। संन्यासीजी छोकरियों से प्रायः एक ही बात कहते—"माँ! तुम काली हो, चंडी हो, दुर्गा हो; अब अपनी महिमा को समझो और आगे बढ़ो। यह ढकोसला और गुलामी की जिन्दगी का परित्याग करो।"

भीड़ में एक बहुत ही सुन्दर लड़की आती थी, जिसका नाम था लता। यह लता लता की ही तरह तन्वी तो थी ही, साथ ही बहुत शोख भी थी। एक दिन इसने मुझसे कहा—"यह संन्यासी बहुत ही अनुभवी और सिद्ध जान पड़ता है। इसकी प्रत्येक बात जोरदार होती है। मेरे भैया, जो शीघ्र ही डिपुटी-मैजिस्ट्रेटी के लिये दरख्वास्त करनेवाले थे, बाबाजी की बातें सुनकर एकबारगी ही सनक उठे। यदि आप उन्हें समझा सकें तो बड़ा उपकार हो।"

मुझे अपनी वाग्मिता पर भरोसा न था; किन्तु लता के साथ उसके घर तक जाने के स्वर्णसुयोग का परित्याग करना उचित न समझकर राजी हो गया, और एक दिन खूब गम्भीर बनकर उसके घर पर

पहुँचा। शहर के एक सुन्दर स्थान पर लता का घर था। उसके भाई थे और एक वृद्धा माँ। घर के नीचे जो चार-पाँच दूकानें थीं, उन्हीं से इस नन्हें-से परिवार की साहिबी चलती थी। पता चला कि तीन-चार सौ मासिक किराया दूकानों से आ जाता है। घर भी भरा-पूरा जान पड़ता था। लता के भाई एम० ए० पास करके आवारागर्दी की परीक्षा पास करने की धुन में थे और संन्यासीजी के सत्संग ने उन्हें गीता की ओर झुका दिया था। अब तो वे गीता के ही स्वर में हँसते-रोते थे, बातें करते थे। साधारण परिचय के बाद ही उन्होंने कहा—"वनमाली बाबू! संसार दुःखों का उद्गम स्थान है।" मैंने पूछा—"सो कैसे! जरा समझाकर कहिये तो।"

उन्होंने ललाट पर आँखें चढ़ाकर और आकाश की ओर अपने दोनों हाथ उठाकर कहा—"अरे! बंगाली होकर भी आप इतना नहीं समझते! मैं जानता हूँ कि जीवन साक्षात नरक है। इस संसार में गुलाम रहना ही तो नरक है मित्र!"

इतना बोलकर उन्होंने दोनों हाथों को समेटकर छाती पर रक्खा और बहुत ही गम्भीर स्वर में कहा—"धर्म का नाश हो चुका है और अब तो प्रभु का अवतार होने ही वाला है। यह देखो, गीता में लिखा है।"

इतना कहकर उन्होंने गीता की पोथी उठाकर बहुत धीरे से मेरे आगे रख दिया और आप आँखें बन्द करके विचारों में लीन हो गये।

जब मैं उनके पास से उठा तो नीचे लता मिली। मैं बोला—"कुमारीजी! मुझे तो ऐसा अनुभव होता है कि आपके भाई साहब वाली बीमारी कहीं मुझे भी न लग जाय। सच्ची बात तो यह है कि वे आराम की जिन्दगी बिताना चाहते हैं। नौकरी की झंझट कौन

उठावे, जब दोनों जून यह गृहदेवता बढ़िया भोजन प्रस्तुत कर देते हैं।"

लता ने अपनी लम्बी-लम्बी पलकें उठाकर एक बार मेरे मुँह की ओर देखा और फिर मुस्कराकर कहा—"तो दया करके आना-जाना बन्द मत कीजियेगा। आप नहीं आते तो माँजी बार-बार पूछती रहती हैं।"

लता की माँजी का यह स्नेह मेरे लिये बहुत ही लाभदायक था, किन्तु उसका बौड़म और पहलवान भाई मुझे नहीं रुचता था। उसने दाढ़ी-मूँछ बढ़ाकर अपके को पूरा औघड़ बाबा बना लिया था। शरीर तो यों ही छः फुट लम्बा और मांसल था, उसपर दाढ़ी-मूँछों की बहार तो एक 'तित करेली दूसरे नीमचढ़ी' की लोकोक्ति को चरितार्थ करती थी। मैं लता के यहाँ आने-जाने लगा और उसकी माँ से मौसी का नाता जोड़कर उस घर में अपना एक स्थान बना लिया। इस तरह पाँच-छः मास चुटकी बजाते समाप्त हो गये और लता की निकटता मुझे खलने लगी।

वह तितली-सी चंचल छोकरी मेरे सारे मन को घेरकर इस तरह बैठ गयी कि मैं अनन्योपाय होकर आत्मसमर्पण की राह देखने लगा। जाड़ा के बाद गर्मी आयी और गर्मी की छुट्टियों में मैं घर न जा सका। पिताजी को लिख दिया कि यहाँ विशेष पढ़ाई की तैयारी में लगा हूँ। घर से स्वीकृति जब आ गयी, तो मैंने लता को यह सुसंवाद इस आशा से सुनाया कि वह बहुत ही प्रसन्न होगी; किन्तु उस समय मेरे पैरों के नीचे से धरती खिसक गयी जब उसने यह कहा कि वह पंजाब की ओर जानेवाली है, जहाँ उसके रिश्तेदार ठेकेदारी करते-करते बस गये हैं।

अब तो मैं कहीं का भी न रहा। जब मैंने अपनी वेदना का एक

चित्र-सा उसके आगे खींच दिया तो वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी और बोली—"पहले तो मैं भैया को ही सनकी कहा करती थी, किन्तु आप तो उनसे भी बढ़े-चढ़े नजर आते हैं।"

मैंने जोश में आकर यह घोषणा कर दी कि यदि मुझे धोखा दिया गया तो पोटासियम साइनाइट खाकर···इत्यादि।

लता गम्भीर होकर बोली—"संन्यासीजी ने कहा था न कि मानव मरने के लिये ही आया है, सो उनके इस कथन को आप सिद्ध कर दीजिये तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

इस तरह शब्दों के लात-जूते खा लेने के बाद मैं यह प्रण करके डेरे की ओर चला कि जीवन भर इस छोकरी का मुँह नहीं देखूँगा। किन्तु जब कल दिन का अन्त हो गया और आकाश में तारे जगमगाने लगे, तो मैं डेरे से निकला और न जाने किस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से उस मोड़ पर पहुँच गया जहाँ से लता का घर सामने दिखलाई पड़ता था। फिर, मेरे पैरों ने स्वयम् मेरी काया को ढोकर उसके सिंहपौर तक पहुँचा दिया। मैं बिना किसी प्रयास के सीढ़ियाँ तय करके अपनी मौसी के सामने जाकर खड़ा हो गया। दयामयी मौसी ने झुड़ककर कहा—"दिन भर कहाँ रहे वनमाली! उस कलमुँहे बाबाजी का जादू तुम पर भी चल गया क्या बेटा!···तुम्हारा भाई तो घर-द्वार छोड़ने पर उतारू है और तुम····।" मैं उत्साह के आवेग को नहीं सँभाल सका और कहा—"माँ! चरणों से विलग कभी नहीं हो सकता। तुम चिन्ता मत करो।"

लता की माँ ने आँचल से अपनी आँखों को पोंछकर कहना आरंभ किया—"देखो बेटा! लता का विवाह कर देना आवश्यक जान पड़ता है। यह नरेन तो कुछ सुनता नहीं। इसके सिर पर गीता और

देश चढ़कर कोल्हू की तरह जमकर बैठ गया है। मैं अकेली क्या कर सकती हूँ !"

मैं सन्नाटे में आ गया। लता का विवाह होने जा रहा है। यह तो बहुत ही बुरा संवाद है। मैंने यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि कहाँ और किस पिशाच के साथ इस सौरभमयी तन्वी का पाणिपीड़न होगा। मुझे सारी बातों का पता चल गया। लड़का गाँव का रहनेवाला है। एक बड़े जमींदार का एकलौता है। अमुक स्टेशन से तीन कोस जाने पर वह हत्यारा गाँव मिलेगा, जहाँ उस पाजी जमींदार का छोकरा रहता है।

सारी बातों की जानकारी प्राप्त करके मैं और विकल हुआ। मैं इस फिक्र में लगा कि यह विवाह किसी तरह खटाई में पड़ जाय तो ठीक। उपाय तो बहुत-से थे, किन्तु मैं धन तथा साधनहीन कर ही क्या सकता था ! लाचार किसी सिद्ध तान्त्रिक की खोज में लग गया। दो-चार मिले भी तो 'मियाँ की जूती और मियाँ के सिर' का उदाहरण पेश करके मुझे ऋणपाप में फँसाने के कारण हुए। न तो उस सत्यानाशी जमींदार-पुत्र के विचार ही बदले और न उसे कालरा या इसी तरह का कुछ हो गया।

हाय करके मैं रह गया। और फिर, एक दिन मुझे अपनी ही कलम से लता के विवाह का निमन्त्रण-पत्र लिखना पड़ा और बारात आने की सारी व्यवस्था का भार उठाना पड़ा। मैंने देखा कि खर्च के अवसर पर नरेन गीता को फेंक कागज-कलम उठा लेता है और फिर गणित के ज्ञान का श्लाघ्य परिचय देने लगता है। बारात आने में अभी विलम्ब था और मुझे मन्द ज्वर ने हठात् दबोच लिया। कलेजा मानो छलनी हो गया था······हाय रे इश्क !

अनुराधा

३

संसार को मैं मेघ-चित्र के रूप में जानती हूँ। हवा के झोंकों से घटाओं के विविध आकार बनते और मिटते जाते हैं। देख रही हूँ, पच्छिम-क्षितिज पर जो घटाएँ एकत्रित हैं, अस्त होनेवाले दिनकर की किरणों से रंग-बिरंगे होकर बहुत ही सुहावनी दिखलाई पड़ती हैं। देख रही हूँ, हाथी के रूप में एक घटा परिणत हो गयी और हाथी बढ़ता-बढ़ता पहाड़ बन गया। फिर, उस पहाड़ का रूप फैलते-फैलते समुद्र की तरह दिखलाई पड़ने लगा। संसार का यही तमाशा है। मैं पहले स्कूल की एक छात्रा थी और फिर एक ऐसे व्यक्ति की जाया बनी, जिसके पास पैसों की तो कमी नहीं है, किन्तु शरीर छलनी बन चुका है। फिर एक नवयुवक की भाभी बनी। पता नहीं, भविष्य का रूप कैसा होगा।

गरीब के घर में जन्म लेकर हम लड़कियों के सात जन्मों के पाप एकबारगी ही दहाड़ उठते हैं और उनकी दहाड़ हम मरने के अन्तिम क्षण तक सुनती रहती हैं। मेरे पिता बचपन में मरे और माँ भी चल बसीं। मामा ने मुझे मोटी रकम लेकर कुत्ते-बिल्ली की तरह बेच डाला। आज मैं जिस व्यक्ति की जीवन-सहचरी कही जाती हूँ, उसके जीवन में ही दीमक लग चुकी है। अब मैं किसी की पत्नी नहीं रही, बल्कि एक नर्स की तरह जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है, जिसका काम है केवल सेवा करना और कराह-कराहकर अपने जीवन को किसी तरह समाप्त कर देना।

सतीश को अपने यहाँ आश्रय देकर मेरे पतिदेव ने एक अवैतनिक सेवक पा लिया; किन्तु मैं एक उलझन में पड़ गयी। यह नवयुवक कितना सभ्य और सुन्दर है, यह जब सोचती हूँ, तो मन के भीतर भूकम्प का अनुभव करती हूँ। यह तो मानी हुई बात है कि लाचार व्यक्ति का हृदय शंकाग्रस्त रहता है और मेरे रुग्न पति भी अब तेज निगाह से मुझे देखा करते हैं। किन्तु मुझे इस ओर ध्यान न देना ही उचित जान पड़ता है। किसी साधारण-सी बात को अपनी कुबुद्धि से असाधारण बना देना अपने ही लिये कष्टकर व्यापार हो जाता है, जिसे मैं पसन्द नहीं करती।

कल संध्या समय जब मैं बैठी नाश्ता तैयार कर रही थी और सतीश चुपचाप खड़ा होकर देख रहा था, तो न जाने क्यों रह-रहकर मेरा सारा शरीर रोमांच से भर जाता था। इस तरह का अनुभव मुझे पहले नहीं हुआ था। मैं सतीश की ओर देखकर भी अनदेखी बनी रही। वह नवयुवक कुछ देर तो खड़ा रहा और फिर दूसरी ओर चला गया। उसका इस तरह जाना मुझे अच्छा न लगा। मैं चाहती थी कि वह

इसी तरह खड़ा रहे। मैंने उसे धीरे से पुकारकर कहा—"क्या सोच रहे हो बाबू ?"

वह बोला—"कुछ नहीं भाभी ! देख रहा था कि तुम कैसे बनाती हो।" मैं हँसी और वह भी मुस्कराकर दूसरी ओर देखने लगा। मैंने फिर पूछा—"क्यों बाबू ! क्या नाश्ता बनाना सीखना चाहते हो ?"

वह खुलकर हँसा और बोला—"मत पूछो भाभी कि मैं क्या देख रहा था। मैं तुमसे बहुत डरता हूँ।"

यह डरने की बात तो एक ही रही। इस डरने के सौ-सौ अर्थ मेरे दिमाग में आये; किन्तु एक भी टिक न सका। जब मैं अपने काम से छुटकारा पा गयी, तो वह फिर मेरे निकट कुछ खोया-खोया-सा आया और बोला—"भाभी ! क्या इस तरह देखना उचित नहीं है ?"

मैं उत्साहित होकर बोली—"तुम किसी गैर को तो नहीं देख रहे हो ? यदि मुझे देखते हो, तो यह तुम्हारा अधिकार है। देखो और खूब देखो बाबू !"

मैंने देखा सतीश का यौवन से भरा हुआ गोरा-गोरा चेहरा लाल हो गया और उसके होठों पर इतनी मीठी मुस्कान खेलकर छिप गयी कि मैं अवाक् रह गयी। इस तरह मुस्कराना पुरुष भी जानते हैं, इसका ज्ञान मुझे पहले न था। मैं चाहती थी कि वह बार-बार उसी तरह मुस्कराय; किन्तु फिर वह ठहरा नहीं—चला गया। मैं अपने बीमार पति के निकट गयी:जहाँ सतीश भी बैठा मिल गया। पहले मैं सतीश को देखकर लजाती नहीं थी ; किन्तु उस दिन उसे देखकर मन-ही-मन सकुचा गयी। कह नहीं सकती, ऐसा क्यों हुआ। सतीश भी सिर झुका-कर बैठा रह गया। मेरे पति ने कहा—"क्यों जी ! तुम बहुत थकी दिखलाई पड़ रही हो ?"

मैं डर गयी और बोली—"नहीं तो, यों ही जरा सिर दर्द कर रहा-है।" सिर-दर्द की बात सुनते ही सतीश जरा-सा चौंककर मेरी ओर देखने लगा और फिर सिर झुकाकर अचल भाव से बैठ गया। मेरे पतिदेव ने व्यग्रता प्रकट करके कहा—"कुछ दवा खा लो। सतीश अपनी भाभी के लिये एकाध गोली सैरिडन की या और किसी दवा की...।"

मैं हँसकर बोली—"आप भी तिल का ताड़ बना देते हैं। योंही सिर भारी लगता है। बात-बात में दवा खाने की आदत मुझे नहीं है। औरतों को दवा से भरसक परहेज रखना चाहिए।"

मेरे कृपण पति को मेरे इस निर्णय से शान्ति मिली। दो आने पैसे का खर्च बच गया। सतीश चुपचाप उठा और जूते पहनकर बाहर चला गया। मेरे पति ने उससे पूछा—"कहाँ जा रहे हो सतीश ?"

वह बोला—"कहीं नहीं भैया, जरा घूम आऊँ। जी नहीं लगता।"

शीघ्र आना कहकर मेरे पतिदेव लेट गये और मैं उस कुर्सी पर बैठ गयी, जिसपर सतीश बैठा था। मैं पहले अपने पति की खाट के ही एक किनारे बैठ जाया करती थी; किन्तु उस दिन, उसी कुर्सी पर बैठना मुझे कहीं उत्तेजक जान पड़ा, जिसपर कुछ क्षण पहले वह सुन्दर नवयुवक बैठा था। मेरे पति ने कुछ सोचकर कहना आरंभ किया—"अनुराधा ! एक बात कहूँ ?"

मेरा हृदय धड़क उठा। मन में जब चोर पैठ जाता है तो शंकाओं का अन्त नहीं रह जाता। मैं कुछ घबराई-सी अपने पति के सूजे हुए पीले चेहरे को देखती रही, जिसपर काल की छाया पड़ रही थी। वे कहने लगे—"देखो, यह लड़का बहुत ही सुशील है। भाग्य से ही ऐसा लड़का हाथ लगा है। इसे स्नेह के बन्धन में बाँधकर ही रखना हमारा

कर्त्तव्य हो सकता है। इसके पिता से हमारी रिश्तेदारी है; किन्तु वह बहुत ही दूर की है, फिर भी अपनापन अब तक सजीव है।"

मेरे मन का भार उतर गया। मैं प्रसन्न होकर बोली—"मुझसे जहाँ तक बन पड़ता है, सतीश के आराम का ध्यान रखती हूँ। यह इतना संकोची है कि एक बार भी इसने यह नहीं कहा कि इसे किस वस्तु की आवश्यकता है। कालेज खुल गया है, किन्तु कभी इसने यह नहीं कहा कि समय पर भोजन मिलना चाहिए। कभी-कभी भोजन बनाने में विलम्ब हो जाता है, तो बिना खाये चला जाता है; किन्तु इसकी शिकायत नहीं करता।"

पतिदेव बोले—"मैंने इसके पिता से कह दिया है कि कालेज के होस्टल की हवा बिगड़ गयी है। वहाँ लड़के को रखना आपदा को न्योता देना है। तुम्हें शायद मालूम न हो, पिछले सप्ताह पुलिस ने इसके होस्टल पर छापा मारा और कुछ जब्त साहित्य बरामद भी किये। दो-तीन गिरफ्तारियाँ भी हुईं। मुझे पता नहीं चलता अनुराधा, ये छोकरे करना क्या चाहते हैं।"

मैं डर गयी। ऐसा न हो कि सतीश भी इस उपद्रव में फँसे। मैं बोली—"यह तो बुरी बात है। अपना सतीश ऐसा नहीं कर सकता; किन्तु हमें तो सावधान रहना ही चाहिए। चार साथियों के बहकावे में पड़कर ही ये नवयुवक जान पर खेल जाते हैं।"

वे कहने लगे—"सतीश की गम्भीरता मुझे बहुत खलती है। इस तरह चुप रहनेवाला व्यक्ति बहुत ही खतरनाक होता है। जो व्यक्ति बराबर अपने आपको छिपाये रखता है, उसपर विश्वास मैं नहीं करता। तुम देखती हो, सतीश जब चलता है, तो उसके पैरों की आवाज नहीं सुनाई पड़ती और जब वह बोलता है, तो इतना धीरे से कि

जरा-सा भी ऊँचा सुननेवाला व्यक्ति सुन नहीं सकता। मैं इस नवयुवक को भी संदिग्ध दृष्टि से देखता हूँ अनुराधा!" उनकी बातों ने मुझे घबरा दिया। यदि मैं सतीश का समर्थन करती हूँ, तो उनका संदेह बढ़ता है और यदि मैं उनकी हाँ में हाँ मिलाती हूँ, तो सतीश का यहाँ रहना असंभव हो जाता है। मुझे चुप देखकर वे कहने लगे—"यह तो मैं भी समझता हूँ कि लड़का उतना खतरनाक नहीं है; किन्तु कालेज के आवारे छोकरों के चलते इसका दिमाग भी फिर सकता है।"

मैंने सोचकर और अपने को बहुत स्थिर रखकर कहा—"तुम जो कहते हो, वह ठीक भी हो सकता है; क्योंकि तुमने दुनिया देखी है। मेरा अनुभव ही कितना है; किन्तु सतीश देखने में इतना शान्त और सुशील है कि मेरे मन में उसके आवारा होने का संदेह नहीं है।"

मेरे पतिदेव बहुत ही तेज दृष्टि से मेरे चेहरे की ओर देखते हुए कहने लगे—"मैं बीमार हूँ और पता नहीं कब तक खाट का पिंड मुझसे छूटे, यही डर है। यदि अच्छा रहता तो कोई भय न था। खैर, सतीश को हमारी बातों का पता न चले तो अच्छा। मैं भी पता लगाता रहूँगा। मैं भी उसके विषय में कोई अशुभ कल्पना नहीं करता; किन्तु अनुराधा, बात यह है कि संकट आने के पूर्व ही यदि उसका पता चल जाय तो सावधान हो जाना चाहिए। जब सिर पर दीवार गिर ही पड़ी, तब फिर सावधान होकर क्या किया जा सकेगा! तुम भी इस ओर ध्यान देना।"

इतना बोलकर वे कराहते हुए लेट गये और उनके पेट पर मैं लीवर की दवा का लेप चढ़ाकर जब जाने लगी तब सतीश कमरे के दरवाजे पर आकर सहसा रुक गया। मैं उसे देखकर भी दूसरी ओर निगाह रखकर बोली—"बाबू! कहाँ गये थे?"

सतीश बोला—"जी नहीं लगा तो गंगा तट पर गया ; किन्तु वहाँ भी मन न लगा और फिर लौटकर आ गया।"

मेरे पतिदेव ने कहा—"क्यों भैया ! यहाँ कोई तुम्हारा मित्र-बन्धु नहीं है ? मैं तो किसी को तुम्हारी खोज करते नहीं देखता।"

दीर्घ निश्वास त्यागकर सतीश बोला—"कोई भी नहीं। मैं किसी से भी अनावश्यक जान-पहचान बढ़ाना पसन्द नहीं करता। गाँव पर भी मेरा यही हाल है।"

सतीश के इस उत्तर ने मुझे पुलकित कर दिया। मैं कुछ बोलने जा रही थी कि वे बोल उठे—"ठीक है बाबू ! मैं भी जब कालेज में पढ़ता था, आवारा और, नालायक छोकरों से बचता था। वकालत करते हुए भी उजाड़ू मित्रों से दूर ही रहता था। अब तो तीन साल से खाट पर पड़ा हूँ। भगवान न तो रोग से छुटकारा दिलवाते हैं और न प्राण ही से। बुरी दशा भुगत रहा हूँ भैया !"

जैसा कि प्रायः होता था, बोलते-बोलते उनका गला भर आया। उनके आँसुओं को मैं घड़ियाल के आँसू समझती हूँ। अत्यधिक कंजूसी और सूदखोरी की चाट जिसे लग जाती है, वह मानव नहीं रह जाता। जोंक की तरह जिसका उद्देश्य रक्त-शोषण ही है, उसके हृदय में दया-ममता यदि आयी तो कहाँ से ? सतीश में जो अपने को संसार से दूर रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, यह तो मैं कुछ-कुछ जानती भी थी ; किन्तु मुझे संतोष हुआ कि उस नवयुवक के मुँह से ही उसकी इस आदत की व्याख्या सुनकर मेरे सहज अविश्वासी पतिदेव को कुछ संतोष ही हुआ होगा।

जब मैं अपने कमरे में बैठी कुछ सोच रही थी, तो सतीश कुछ झिझकता हुआ आया और बोला—"तुम्हारे सिर में दर्द है ?"

यद्यपि दर्द नहीं था, फिर भी मैं बोली—"हाँ, है तो!"

हम स्त्रियों में यह लालसा विशेष रूप से पायी जाती है कि पुरुष हमारा स्नेह-सत्कार करें और इसीलिये बीमारी के झूठे बहाने करके हम पुरुष के हाथों की सेवा का सुखानुभव करती हैं, और इस तरह अपने रूप-गुण का मूल्यांकन करती हैं।

सतीश पाकेट से एक शीशी निकालता हुआ बोला—"मैं दवा लाने गया था। मैं जानता हूँ कि सिर-दर्द कितना कष्टदायक होता है।"

मेरा हृदय धड़क उठा। यह धड़कना भयजनित न था। मैंने अनुभव किया कि मैंने एक प्याला शराब पी ली है, और रग-रग में सनसनी पैदा करती हुई वह मदिरा दौड़ी फिरती है। अपने को अच्छी तरह सँभालकर मैं बोली—"तुम भी पागल हो बाबू! मुझ-जैसी अभागिनियों को तो मर जाना चाहिए; किन्तु दवा ग्रहण करना उचित नहीं है। आखिर जीवन के प्रति मैं इतना सदय क्यों रहूँ, बतलाओ तो?"

सतीश फिर मुस्कराया। उसका मुस्कराना मुझे जरा भी नहीं रुचता। वह जब-जब मुस्कराता है, मेरे अन्तर में भूकंप-सा होने लगता है और फिर अपने अस्त-व्यस्त दिमाग को सँभालते-सँभालते मुझे काफी कष्ट हो जाता है। इतना होने पर भी मैं यह चाहती हूँ कि वह सुन्दर लुभावना नवयुवक मेरे सामने खड़ा-खड़ा मुस्कराया करे।

सतीश बोला—"भाभी! तुम इतना निर्दय क्यों बनना चाहती हो? देखने से तो ऐसा लगता है कि ममता की तुम मूर्ति हो; किन्तु तुम्हारे विचार तो बहुत ही भयावने हैं। मुझे कष्ट होता है भाभी!"

मैंने कहा—"कष्ट होता है? आखिर मैं तुम्हारी कौन हूँ, सो तो बताओ। केवल भाभी, यही न! भैया की खैर मनाओ, भाभी की

कमी नहीं रहेगी। एक भाभी मरी न कि दूसरी भाभी हाथ जोड़े दरवाजे पर हाजिर है।"

सतीश का चेहरा कटुता से भर गया। वह भीतर-ही-भीतर झल्ला उठा; पर अत्यधिक शान्त गम्भीर स्वभाव का वह था। कुछ देर इधर-उधर देखकर वह कहने लगा—"नाता-रिश्ता किसी को बाँधकर रखने की चीज नहीं है। किसी को बाँधकर अपने चरणों का दास बना लेना न तो तलवार का काम है और न रिश्तेदारी का। रूप से भी यह काम नहीं सधता।"

मैंने पूछा—"तो वह कौन-सी चीज है, जरा बतलाना तो बाबू! यह तो बहुत ही तत्व की बात बोल रहे हो। मैं उत्सुक हूँ, तुम्हारे सिद्धान्त जानने के लिये।"

सतीश बोला—"फिर कभी पूछ लेना भाभी! इस दवा को तुम खा लो तो मेरे मन को शान्ति मिले। मेरी इतनी ही विनय है।"

यद्यपि मेरे सिर में दर्द न था, फिर भी मैं दवा लेने से इनकार न कर सकी। सतीश के हाथ से शीशी लेते समय उसकी उँगलियों का शिरा मेरी उँगलियों से छू गया। मैं इतनी ही कहूँगी कि विह्वलता उत्पन्न करनेवाला ऐसा मादक स्पर्शानुभव पहिले मैंने कभी नहीं किया था। मैंने सतीश से ही जल का ग्लास माँगा और इस तरह एक बार फिर मुझे अनिर्वचनीय स्पर्श-सुख प्राप्त करने का अवसर मिला।

एक बात मैं कहूँगी। जब से सतीश मेरे मन के निकट आया है, मुझे अपने पति की सारी कुरूपता साफ-साफ दिखलाई पड़ने लग गयी है। कारण यह हो सकता है कि पहले तो हम दो ही मानव इस घर में थे और तुलना करने के साधन का अभाव था। रात को

दीपक की चमक भली लगती है; क्योंकि वह चमक चाहे कैसी भी हो, एकमात्र वही है। किन्तु, जब दिन को दिनकर की विभा फैलती है, तो दीपक की हीनता स्पष्ट हो जाती है। मन-ही-मन हम दिन से उसकी तुलना करते हैं और फिर दीपक को बुझाकर एक कोने में रख देते हैं। सतीश ने आते ही मेरे सामने अपना एक उदाहरण स्पष्ट कर दिया।

एक पुरुष कैसा हो सकता है, उसका उदाहरण सतीश मेरे सामने था और अपने पति को सतीश के सामने रखकर, जब-जब मैं देखती थी, मेरा मन घृणा, झुँझलाहट और विकलता से भर जाता था। यह एक ऐसा चमत्कार है जिसने मेरी आँखों के सामने मेरे हीन भविष्य और गंदे वर्तमान को स्पष्ट कर दिया था। अधेड़ और चिर-रोगी पति को पाकर भी मैं सन्तुष्ट ही थी। ऐसे पुरुष के कमजोर हाथों में बिक जाने का मलाल भी उतना नहीं था और न अपने कमीने मामा को ही मैं कोसती थी। किन्तु, जब से यह मनमोहक नवयुवक मेरे घर में आया, मेरा मन विद्रोही हो गया और मैं तो इस चिन्ता में घुलने लगी कि अपने मामा का मैं कैसे गला काट डालूँ। जिसने मेरे सारे जीवन को ही रौंदकर नष्ट कर दिया। अब सीधी राह चलकर मैं सुख का मुँह नहीं देख सकती। यदि मैं धर्म और ईमान का साथ देती हूँ, तो मेरा यह दुर्लभ जीवन सड़-गलकर नाली में बह जाता है और यदि मैं इस संसार का पूरा उपभोग करूँ, तो संसार के नरक का एक तुच्छ कीट बनकर रहना पड़ेगा। दोनों ही तरह अपना विनाश संभव जानकर मैं बहुत ही व्यग्र रहने लगी।

सतीश जब कभी मेरे सामने आता है, तो मैं उल्लसित हो जाती हूँ और यह भूल जाती कि मुझे इतना आगे बढ़ना नहीं चाहिए।

मेरे भीतर जो एक संघर्ष हर घड़ी चला करता था, उसका पता न तो मेरे पति को था और न सतीश को। हाँ, इतना मुझे ज्ञात होने लगा था कि सतीश मेरी ओर खिसकता चला आ रहा है। मैं भी पीछे हटती जाती थी। मेरे पीछे हटने में कुभावना नहीं थी। मैं उस युवक को अच्छी तरह देखना चाहती थी और यह भी चाहती थी कि···जाने दीजिये, इन बातों की व्याख्या करके न कहना ही उत्तम है। मेरे पीछे खिसकने की गति यद्यपि सतीश के आगे बढ़ने की गति से कम थी। अतः इस संभावना को मैं देख रही थी कि कहीं-न-कहीं हम एक दूसरे को छू लेंगे, जो मेरे लिये अच्छा न होगा।

सतीश ने एक दिन मुझसे कहा—"आपसे एक सहायता चाहता हूँ।" उसके इस सम्मानसूचक आप शब्द ने मुझे जरा-सा मर्माहत किया, किन्तु मैं बोली—"बोलो, क्या सेवा करूँ?"

मैंने सेवा शब्द पर अनावश्यक जोर देकर सतीश के आपके जवाब में कहा। वह बोला—"भाभी! आज देख रहा हूँ, तुम नाराज हो। मेरा अपराध भी तो बतला दो!"

अपराध! यह तो बहुत ही भला सवाल पूछा उस नवयुवक ने। मेरे जीवन को वर्तमान से लेकर भविष्य तक आग की ज्वालाओं से भर देनेवाला कौन है? मैं अपने बीमार पति की सेवा और दवा-पथ्य को लेकर यौवन के जाने की राह देख रही थी। मैं तो किसी हद तक भूल गयी थी कि मेरे इस अधम शरीर पर यौवन के वसन्त की छाया भी कभी पड़ी या नहीं। पिछले वर्ष जब मैं अपना बीसवाँ जन्म-दिन मनाने चली, तो मैं एकाएक रो उठी। हाय, अभी तो कम-से-कम दस-पन्द्रह साल यौवन का नरक और भी भोगना है! मैं रोयी और इतना रोई कि जितना कभी भी रोने की याद नहीं है।

सतीश को देखकर मुझे अपने यौवन की याद आयी और साथ ही मेरे सामने मेरा दयनीय वर्तमान और अन्धकारपूर्ण भविष्य स्पष्ट हो गया। मैं पूछती हूँ, आखिर इन बातों की ओर मेरा ध्यान खींचनेवाला यही सतीश तो है ! क्या इससे बढ़कर संसार में कोई दूसरा अपराध भी हो सकता है ? मैं चुप लगा गयी तो वह कमरे के भीतर सहमा हुआ-सा आया और खुली खिड़की पर बैठ गया। मैं बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी और मेरे पतिदेव नीचे कमरे में सो रहे थे। दोपहरी का उदास निर्जन समय था। छत पर जोजूठी थालियाँ पड़ी थीं, उनपर बैठकर कौवे अपने अधिकार के लिये आन्दोलन कर रहे थे। नीले आकाश में चील के बहुत-से जोड़े तैर-से रहे थे और सामने के मुरेड़े पर चिरकी हुई एक गिलहरी अपने सिर पर पूँछ उलटकर बोल रही थी। खिड़की से ठंढी हवा के झोंके आ रहे थे। अलसानी-सी होकर पुस्तक पर से आँखे उठाकर मैंने सतीश की ओर देखा, जो अपनी लुभावनी दृष्टि से एक टक मुझे देख रहा था। मैंने अनुभव किया, मेरी आँखो में किसी ने रेत भर दी है और साँस कुछ तेजी से चलने लगी है। सतीश चुपचाप मुझे देख रहा था और मेरी दृष्टि भी उसके सुन्दर चेहरे से चिपक गयी। इस अवस्था में हम कितनी देर रहे, यह बतलाना कठिन है। किन्तु, पहले सतीश नींद से चौंका और कुछ भय तथा संकोच से कातर होकर अपराधी की तरह बोला—"भाभी !"

उसका स्वर शराबी की तरह भर्राया हुआ था। मैं एक हल्की-सी अंगड़ाई लेकर मानो जाग उठी और मन-ही-मन लज्जित-सी होकर बोली—"देखो बाबू ! यदि इस तरह हम दोनों को कोई देख ले तो···।"

सतीश बोला—"इसका उत्तर तुम दे सकती हो, क्योंकि मैं भाग्य के साथ बहस नहीं करता भाभी !"

भाग्य के साथ बहस करना क्या स्त्रियों का काम है, जो इस तरह के विचार उसने व्यक्त किये। मैं बोली—"पुरुष होकर जब तुम भाग्य के आगे नत-मस्तक होते हो, तो फिर मेरी हस्ती ही कितनी है पगले !"

सतीश का चेहरा लाल हो गया। वह अर्धविक्षिप्त-सा जान पड़ने लगा। उसकी आकुलता देखकर मुझे बड़ा सुख मिला। मैं तो यही देखना भी चाहती थी। जिस तरह शिकारी अपने शिकार का तड़पना देखकर अपने प्रहार-कौशल पर इतराता है, उसी तरह मैं भी इतराने लगी। सतीश अचानक अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और बोला—"आखिर तुमने मुझे पागल कर देने का निश्चय तो नहीं कर लिया है। मै तुम्हारी बातों को ठीक-ठीक नहीं समझता। तुम तो बिलकुल रहस्यमयी हो भाभी !"

मैं तकिये का सहारा लेकर तनिक-सी लेटती हुई बोली—"बैठो, जाते कहाँ हो ? तुम जानते नहीं...इस रास्ते पर का पथिक लौटता नहीं। उसकी खबर ही दुनिया को मिलती है...मैं कहती हूँ बैठ जाओ...।"

सतीश थरथराता हुआ-सा फिर खिड़की पर बैठ गया और इस तरह मेरा मुँह देखने लगा कि मैं भी तनिक-सी घबरा उठी। कहीं ऐसा न हो कि वह भावुक नवयुवक सचमुच अपने को स्वाहा कर दे।

मैं कुछ देर तक चुप रहकर बोली—"सतीश !"

वह बोला—"अनुराधा !"

विभाकुमारी

४

सुनती हूँ कि प्यार करना ही औरतों के लिये मौत है। यदि यह बात सत्य है तो मैं अधमरी हूँ ; क्योंकि मैंने किसी को प्यार किया भी तो केवल मनोरंजन के लिए।

एक दिन मैंने रास्ते में देखा, एक मदारी हाथ में डुगडुगी लिये एक बन्दर को नचा रहा है। यह कोई नई बात नहीं है। आपमें से प्रत्येक ने बन्दर का नाच देखा होगा। मदारी की छड़ी पर निगाह रखकर, हमारे लंका-विजेता नल, नील, अंगद और सुग्रीव इस तन्मयता से नाचा करते हैं कि देखते ही बनता है! मैंने भी मदारी का पेशा स्वीकार करना चाहा और बन्दर की जगह मुझे मिले दो व्यक्ति। एक तो मेरे पतिदेव, जिनकी नाक सोते समय इस जोर से दहाड़ती है कि मेरे घर में रात को चोर घुस ही नहीं सकते ; और दूसरा बन्दर

मिला वह कालेज का छोकरा जिसका नाम वनमाली है। वह आतंक-वादी है, वेदान्ती है, कवि है, प्रान्त-भक्त है और न जाने क्या-क्या। इन दोनों को मैं नचाती हूँ और आनन्द मनाती हूँ। जब मेरे विवाह की व्यवस्था हुई, तो वनमाली एक दिन खाक की तरह सुफेद बुकनी-सी कोई चीज लिये मेरे निकट आया और बहुत ही नाटकीय ढंग से कहने लगा—"विभे, आज अन्तिम विदा लेने आया हूँ। जीवन की सारी मधुरिमा शेष हो गयी और वह देखो शून्य मुझे पुकार रहा है···।"

वह जब अपना कवित्वपूर्ण वक्तव्य दे चुका, तो मैंने कहा—"अपने इस भाषण को यदि लिख रक्खो तो निश्चय ही साहित्य को एक रत्न हाथ लगे। मेरी सम्मति यह है कि तुम यदि प्रयत्न करो, तो एक अच्छे गद्यकवि बन सकते हो।" मेरी इस अप्रत्याशित सम्मति को सुनकर वह आग-बबूला हो गया और गंभीर स्वर में उसने दूसरी घोषणा की—"मैं आज अपने जीवन-नाटक का पटाक्षेप कर रहा हूँ। अरी निष्ठुरे! तुझे जरा भी दया नहीं आती?"

इतना बोलकर उसने अपनी उस जादू की पुड़िया को खोला और मुझे बहुत ही तपाक से दिखलाकर कहा—"तुमने इस विश्व-विख्यात विष को कभी देखा है? नाम तो सुना होगा जरूर।"

मैं बोली—"यह तो मैदा या बार्ली है। विष तो काले रंग का होता है।"

वह आँखें बन्द करके बोला—"हाय! तुम इतना भी नहीं जानती। इसीका नाम है पोटासियम साइनाइट। यह हलाहल है हलाहल, एकदम कालकूट! आज यही मुझे समस्त पाप-ताप से मुक्ति दिलवायेगा।"

मैंने पूछा—"विष खाने से क्या लाभ होगा?"

वह बोला—"लाभ तो यही होगा कि तुम्हारा वियोग फिर मुझे नहीं सता सकेगा। मैं तुम्हारे बिना क्षणमात्र भी जी नहीं सकता विभा!"

यह एक नाटक था, जिसे मैंने हास्य रस का ही नाटक समझा। मैंने गम्भीर होकर कहा—"यदि तुम सचमुच मरने जा रहे हो, तो यह बहुत ही दुःख की बात होगी; किन्तु उस दिन संन्यासीजी ने साफ कह दिया था कि मरने के लिये ही मानव जी रहा है। तो क्या आज ही मरने का विचार है?"

बनमाली शैतान की तरह चिल्ला उठा—"राक्षसी! तू पत्थर की बनी है!" इतना बोलकर वह इस तरह कमरे में टहलने लगा, मानो नृत्य का अभ्यास कर रहा हो। कुछ देर तक टहलता-टहलता जब उसका जी ऊब गया, तो कुर्सी पर बैठकर रुआँसा-सा होकर कहने लगा—"तुमने विवाह की मंजूरी क्यों दे दी?"

मैंने पूछा—"विवाह तो मेरा हो रहा है। तुम्हें इस झगड़े से मतलब?"

वह मर्माहत-सा होकर बोला—"मैं जो तुम्हें प्यार करता हूँ, क्या इतना ज्ञान भी तुम्हें नहीं है? हाय री पाहनगठित मानवी!"

मैं बोली—"दुलार-प्यार की बात मैं नहीं जानती। सच्ची बात तो यह है कि मैं प्यार के तत्व को समझने से ही इनकार करती हूँ। हाँ, इतना जानती हूँ कि तुम किसी नाटक के प्रधान पात्र होने के अधिकारी हो। बस इतना ही।"

बनमाली ने अपनी गोलगोल आँखों को ललाट पर चढ़ाकर कहा—"विभे, यह समय विनोद का नहीं है। किसी के जीवन के साथ खेलवाड़ करना उचित नहीं। पशु में भी दया-ममता......।"

इतना बोलकर वह मेरी ओर ठीक उसी तरह घूरने लगा, जिस तरह वधिक किसी ऐसे ताजे कटे पशु को घूरता है, जो उसके अधिकार-

क्षेत्र के बाहर का हो। मैं मन-ही-मन हँसती रही और इस कलयुगी मजनू की एक-एक बात का रस लेती रही। मूर्खों के स्वर्ग में निरंतर रहनेवाले इन प्रेमियों का रहस्य आज तक किसी पर भी प्रगट नहीं हुआ ! बनमाली एक बार दीर्घ निश्वास त्यागकर जब जाने लगा तब मैं बोली—"तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर नाराज हो जाते हो। अच्छा, कल आकर मुझे यह सोचने में मदद देना कि मुझे क्या करना चाहिए।"

लौटकर बनमाली खड़ा हो गया। उसके चेहरे से संतोष झलकने लगा। जब वह कल लौटा तो मैंने पूछा—"अच्छा, यह बतलाओ कि मैं विवाह यहाँ करूँ या देश पर जाकर ? जिस अभागे से मेरा गठ-बन्धन होनेवाला है, वह जैसोर जिले का रहनेवाला है। अपनी राय तो दो।"

बनमाली का चेहरा भयंकर हो उठा। वह काँपती हुई आवाज में कुछ कहना चाहता था; किन्तु मेरी माँ आ गयीं और प्रेमी महोदय का प्रेमज्वर सहसा काफ़ूर हो गया। माँ ने कहा—"क्यों रे बेटा ! तेरी बहन का विवाह इसी मास में होनेवाला है और तू हाथ-पर-हाथ धरकर बैठा है ? इस तरह काम कैसे चलेगा भैया !"

बनमाली भीगी बिल्ली बना बैठा रहा और माँ की हाँ-में-हाँ मिलाकर बोला—"अभी तो विलम्ब है मौसी ! जो आज्ञा होगी पालन करूँगा।"

इसके बाद बारात के स्वागत-सत्कार की विराट् योजना पर बातें होती रहीं और मैं कमरे से चली गयी।

बीच-बीच में बनमाली आता भी तो भैया के निकट कुछ क्षण बैठकर चला जाता। धीरे-धीरे मेरे विवाह का दिन आ गया।

बारात आयी और भैंसे की तरह एक मोटर पर लदा हुआ मेरा भद्दा-सा दूल्हा उतरा। दूल्हा एक जमींदार का एकलौता पुत्र था और आवारापन के कारण पढ़ाई की झंझट से बचकर पक्का जमींदार बन गया था। काला रंग और खूब मोटा शरीर। उम्र भी २५ या ३० से कम न होगी। उसकी आँखों से शरारत और कमीनापन इस तरह झलकता था कि मेरे भाई ने माँ से कहा—"तुमने विभा को काटकर कुएँ में डाल दिया। खैर, जो होना था हो गया; किन्तु मैं जन्म भर इस पाजी का मुँह नहीं देखूँगा।"

इस भीष्म-प्रतिज्ञा के बाद भैया ने देश-भ्रमण के उद्देश्य से अपने बक्स-बिस्तर ठीक-ठाक करना आरंभ किया और मैं कभी रोकर और कभी हँसकर सब देखती-सुनती रही।

विवाह को मैं पहले एक तमाशा समझती थी और आज भी समझती हूँ; किन्तु जब मुझे पीहर जाना पड़ा तो मैंने यह अनुभव कर लिया कि जिन देशभक्तों को कालेपानी की सजा होती है, उनका मन कैसा विकल होता होगा। जाने के दिन बनमाली आया और बोला—"विभा, आज तो तू जा रही है, किन्तु याद रखना मेरी आह तुम्हें सुखी रहने नहीं देगी।"

अचानक मैं सिहर उठी। इतना बड़ा अभिशाप अपने सिर पर लादकर मैं पतिगृह जाने को तैयार न होती, यदि मेरा वश चलता। शान्त और धीर भाव से बनमाली मुझे गाड़ी पर पहुँचा आया। गाड़ी खुली और मैं अपने परिचित स्टेशन को मन-ही-मन माथा नवाकर चल पड़ी। माँ का उदास चेहरा और भैया की कठोर गम्भीरता भूले नहीं भूलती थी। बनमाली का वह अभिवादन भी कम मनोवेधक न था,

जो उसने चलते समय दूसरों की आँखें बचाकर किया था, जब मैं घूँघट के भीतर से उसे देख रही थी।

गाड़ी खुल जाने पर मैंने अपना घूँघट उठाया और बाहर की ओर देखना आरंभ किया। मैं अपने को प्रसन्न रखना चाहती थी; किन्तु मन रह-रहकर रो उठता था।

माँ की याद, सखियों की याद, कालेज की याद, और सबसे अधिक बनमाली की याद मुझे सताने लगी। मैं जिस स्नेह और वियोग को बच्चों का खेल समझती थी, वह स्नेह वियोग की अवस्था में, हृदय को चिकोटियाँ काटकर व्यग्र किये डालता था। बनमाली रह-रहकर याद आता था और याद आती थी उसकी एक-एक बात-सजीव बनकर। गाड़ी जा रही थी और मैं खुली खिड़की की ओर मुँह करके बाहर के क्षण-क्षण बदलनेवाले दृश्यों को देख रही थी। छोटे-छोटे स्टेशन एक-एक झपट्टे में पार करके मेल ट्रेन पूरा बल लगाकर भाग रही थी। ठीक चौबीस घंटे के बाद और-और कई जगह गाड़ियों की अदला-बदली के बाद मैं जैसोर के उस सब-डिवीजन में पहुँच गयी जो मेरी कर्मभूमि बन चुका था।

मेरा पतिगृह सम्पन्न है, और जब मैं उस बड़े मकान में पहुँची तो दो-चार ही दिनों के बाद मुझे पता चल गया कि एक दूसरे मकान में मेरे पतिदेव ने थियेटर की एक एक्ट्रेस को पाल रक्खा है, जो कन्नौज का गुलाब जल दिये बिना जल नहीं पीती और तीन-तीन पैकेट सिगरेट रोज फूँक डालती है। हारमोनियम लेकर जब गाने लगती है, तो बाहर गली में भीड़ लग जाती है और जब क्रुध होकर मेरे पतिदेव के मृत पुरुषों का एकोदिष्टश्राद्ध आरंभ करती है, तो घर के नौकर तक भागकर सामने के बनिये की दूकान में शरण लेते हैं।

मैंने कालेज में अतिमानव का वर्णन पढ़ा था। साधारण मानव से जो विशेष होता है, उसे अतिमानव कहा जाता है। मैंने उस एक्ट्रेस को भी अतिमानवी कह, उसके दर्शनों की लालसा को अपने पतिदेव पर प्रकट किया, जो शराब के नशे में उन्मत्त होकर गर्दभ स्वर में सिनेमा के गीत गाने का विफल प्रयास कर रहे थे। उन्होंने मुँह बिचकाकर कहा—"यह तुमसे किसने कहा कि वह बहुत ही गुस्सैल है। उस-जैसा रूप तो इस प्रान्त में खोजे भी नहीं मिलेगा और गुण की चर्चा व्यर्थ है; क्योंकि तुम समझ न सकोगी। जो गीत अभी मैं गा रहा था, वह उसी का गाया हुआ है। प्रभात कम्पनी तीन हजार मासिक वेतन देने को तैयार थी; किन्तु उसने रुपयों पर लात मार-कर अपनी महत्ता का ऐसा परिचय दिया कि संसार की स्त्रियाँ उसके सामने आज मुझे कुतियों-सी जान पड़ती हैं।

मेरा मन रोष से भर गया। मैं बोली—"आपको यह अधिकार है कि जिसका जी चाहे बखान करें, किन्तु दूसरों की ऐसी गन्दी निन्दा करने का अधिकार आपको नहीं है।"

मेरे पतिदेव ने अग्निशर्मा बनकर कहा— "मैं तुम्हें भी उसकी तुलना में कुतिया नहीं तो बन्दरी तो अवश्य ही समझता हूँ।"

जी में तो आया कि उनके फूले हुए गन्दे गाल पर एक तमाचा रसीद कर दूँ, किन्तु जातिगत् संस्कार ने मुझे रोक दिया।

मैं शान्त स्वर में बोली—"आप मेरे देवता हैं। मुझे कुतिया समझें या और कुछ, मुझे कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु कृपया संसार भर की स्त्री-जाति को गालियाँ देना उचित नहीं है; क्योंकि आपकी और मेरी माता एवं मातामही तो उन्हीं में से हैं। आवेश में आकर मर्यादा को लाँघ जाना निन्दा का कारण बन जाता है, और आप-जैसे

माननीय पुरुषों के लिये निन्दा मौत से भी बढ़कर है।"

मेरे पतिदेव ने मेरी गरदन पकड़कर दूर धकेल दिया और कहा—"मैं तेरा मुँह देखना नहीं चाहता।"

मेरे जीवन का यह पहला अनुभव था। मैं जान गयी कि विवाह कितना कष्टदायक होता है। रूस के विषय में मैंने बहुत-सी किताबें पढ़ी थीं और मैं वहाँ की सामाजिक व्यवस्था की निन्दा ही करती थी; किन्तु उस दिन की अपमानजनक घटना ने मेरे मन को विद्रोही बना दिया। मैंने भी निश्चय कर लिया कि जान दे दूँगी; किन्तु ऐसे पशु के साथ जीवन नष्ट नहीं करूँगी। दिन बीते और सप्ताहों ने मास का रूप धारण किया। यों तो घटना पुरानी हो गयी; किन्तु मेरे हृदय पर जो एक जहरीला फोड़ा उठ आया था, उसका विष रोम-रोम में फैल गया और मैं मरने-मारने को प्रस्तुत हो गयी, जो मेरे लिये उचित न था।

तलवार की चोट से एक ही व्यक्ति मरता है, यानी वही मरता है जिसपर उसका वार होता है; किन्तु अपमान की चोट से देश-का-देश मर सकता है। मैंने अपने आपको बाहर से पत्थर की तरह कठोर बना लिया; किन्तु भीतर-ही-भीतर ज्वालामुखी का विस्फोट होता रहा, जो आज तक ठीक-ठीक शान्त नहीं हुआ।

एक बात मैं यही सोचती थी—या तो परिस्थिति के अनुकूल स्वयम् बन जाऊँ या परिस्थिति को अपनी माँ-जैसा बना डालूँ। अचानक मेरे पति पर उनके एक पुराने रोग का आक्रमण हुआ। रोग था हृदय का दर्द। वे कराहकर अचानक खाट पर लेट गये और दर्द ने उग्र रूप धारण किया।

सब-डिवीजन में मेरा घर है और वहाँ डाक्टर के नाम पर एक मूर्ख

डाक्टर था, जो पीयूषपाणि माना जाता था। जिस शान से वह रोगियों को देखा करता था, वह असहनीय थी; किन्तु लाचार बुलाना पड़ा। बरसात की रात और रोग का आँधी-तूफान की तरह वेग। मै घबरा उठी ; किन्तु दुर्भाग्य का सामना तो साहस के अस्त्र से ही किया जा सकता है। डाक्टर आया और उसने अपनी उल्टी-सीधी चिकित्सा से रोग को और भी बलवान बना डाला। उसी रात को शहर से डाक्टर लाने के लिये मैने मोटर भेजी; किन्तु १५ मील आना-जाना कोई आसान तो न था। सुबह आप-से-आप जब रोग कुछ स्थिर हुआ, तो उन्होने आँखें खोलीं और बहुत ही कष्ट से कहा—"विभा, अब जीवन की आशा नहीं है। डाक्टर बुलाना बेकार होगा। यदि रजिस्ट्रार को बुलवा लेती तो मै बिल···।"

मेरा हृदय सहसा उमड़ आया और बोली— "इतना हताश होना उचित नहीं। आप स्वस्थ हो जाते हैं। डाक्टर तुरन्त आता है। रात ही मैनेजर बाबू को मोटर पर भेज चुकी हूं। वे आ ही रहे होगे।"

वे कातर स्वर में मेरी पीठ पर हाथ रखकर बोले—"यह रोग पुराना है और मै जानता हूँ कि इसका परिणाम क्या होगा। मुझे भय नहीं है विभा! चाहता हूँ कि यह जगह जमींदारी तुम्हारे नाम से कर दूँ और फिर आराम से सो जाऊँ। मैंने तुम्हें बहुत सताया ···क्षमा करना विभा!"

मैं रो उठी। उस दिन मैने अनुभव किया कि एक हिन्दू स्त्री के लिए पति क्या है। मैने एक नजर अपनी चूरियों को देखा और सामने के शीशे में माँग के सिन्दूर को देखकर बिलख उठी। मैने कहा— "मुझे जगद्द-जमींदारी कुछ भी नहीं चाहिए। मैं आपसे

दो चूरियों की भीख चाहती हूँ। इन्हें आप मेरे ही पास रहने दें।"

उनकी आँखें और गला भर आया और होठ भी काँपने लगे। मैं उनके दोनों पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोयी। यही एक बल मेरे पास था जिससे भाग्य और भगवान दोनों को मैं रिझाना चाहती थी। दिन उठते ही डाक्टर आ गये और विधिवत् चिकित्सा आरंभ हो गयी। मैंने डाक्टर से जब उनका समाचार पूछा तो वह कुछ सहमता हुआ बोला—"अभी तो कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, यदि चौबीस घंटे मेरी दवा पर ये रह गये, तो मैं आपको भरोसा दे सकता हूँ।"

मैं क्या करती? दवा और सेवा तो अपने हाथ की बात थी; किन्तु फलाफल तो नारायण के हाथ में था।

कालेज में मैं प्रायः अनीश्वरवाद का पक्ष लेकर डिबेट में प्रायः प्रथम आती थी; किन्तु उन दिनों ईश्वरवाद का पक्ष लेकर जीतने की जो कामना मेरे मन को मथ रही थी, उसका ओर-छोर न था। दो-तीन दिनों के बाद उनका रोग दब गया, किन्तु ज्वर का वेग बढ़ गया। डाक्टर ने कहा—"ज्वर की चिन्ता आप न करें। यह तो मलेरिया है। जो संहारक रोग था, वह दब गया; किन्तु अभी सावधान रहिए। कहीं ऐसा न हो कि हृद्रोग का फिर दौरा हो जाय।"

मैं व्याकुल होकर फिर भगवान का स्मरण करने लगी। और दो दिनों के बाद ज्वर का ज्वार-भाटा भी उतरने लगा तो एक दिन अचानक वह थियेटरवाली पधारी।

मैं बैठी उनका सिर सहला रही थी और वे मेरी गोद में सिर रक्खे हँस रहे थे। हँसते-हँसते उन्होंने कहा—"विभा, अगर मैं मर जाता तो?"

मैं बोली—"अशुभ कल्पना करना उचित नहीं। शास्त्रों के मत से यह पाप है।"

मैं और न जाने क्या कहने जा रही थी कि दरवाजे का परदा हिला और हवा के साथ विलायती सेन्ट तथा सिगरेट की सम्मिलित महक भीतर आयी। मैं हटकर खड़ी हो गयी और ऊँची एँड़ी का बूट पहने एक लम्बी-सी औरत ने घर में प्रवेश किया, जिसे मैंने क्षणभर के लिये आवारा नर्स समझो। यही थी वह थियेटरवाली सुन्दरी, जिसका नाम बिजलीबाला था। घर में आते ही बिजलीबाला ने नाक पर से रूमाल हटाकर कहा—"छि! छि! यह मकान कितना गन्दा है। नीचे से ऊपर तक गन्दगी-ही-गन्दगो, मानो खोभार हो।"

मैंने देखा, वह छरहरे बदन की एक औरत थी तथा चेहरे पर सीतला के हल्के-हल्के दाग चमक रहे थे। रंग गोरा तो था, किन्तु भीतर से पीलापन झलकता था। उसके सिर के बाल विलायती छोकरियों की तरह कटे हुए थे और हाथों में जड़ाऊ चूरियाँ चमक रही थीं। आँखों से विलास और शरारत की झलक आती थी। पतले होठ घृणा से सिकुड़े हुए-से थे। उसने आते ही मेरे पति का ललाट स्पर्श किया और बिना इधर-उधर ध्यान दिये खाट पर अधिकारपूर्वक बैठ गयी। मैं खड़ी-खड़ी उसका मुँह ताकती रह गयी। अच्छी तरह बैठकर उसने मेरी ओर ध्यान दिया और आदेश भरे स्वर में पूछा—"बड़ी गर्मी है; एक हाथ-पंखा चाहिए। ऊफ्!"

मैं उसके इस अपमानपूर्ण व्यवहार से जल-भुनकर खाक हो गयी; किन्तु दासी की तरह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गयी। बिजलीबाला ने फिर पूछा—"क्यों जी, इनकी तबीयत कब से खराब है? मुझे कोई खबर नहीं दी गयी। यह कैसी बात है! मुझे धोखे में क्यों रक्खा गया?"

इतना एक साँस में बोलकर उसने मेरे पति के चेहरे की ओर गुर्राकर देखा। मैंने देखा, वे आँखें बन्द किये चुपचाप लेटे हुए हैं। उनका यह सन्नाटा मुझे बुरा लगा; किन्तु लाचार थी। मैं जब कमरे से बाहर जाने लगी, तो फिर बिजलीबाला ने रुक्ष स्वर में कहा—"मेरी बातों का यदि कोई जवाब हो सकता है, तो वह मुझे मिलना तो चाहिए। आखिर इस तरह मुझे धोखे में क्यों रक्खा गया ?"

इस बार मेरे पतिदेव का कंठ फूटा। वे विनय भरे स्वर में कहने लगे—"मैं तो हठात् बीमार हो गया और इस बेचारी को क्या पता कि कहाँ-कहाँ खबर भिजवानी चाहिए। खैर, जो होना था हो चुका। अब उसकी चर्चा व्यर्थ है। मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। दो-चार दिनों में तबीयत ठीक हो जायगी।" बिजलीबाला ने ललाट पर आँखें चढ़ाकर कहा—"दैया री! अभी दो-चार दिन और तुम यहाँ रहोगे। यह न होगा। मेरे यहाँ चलो। मैं इस गंदे घर में तुम्हें रहने नहीं दे सकती। यहाँ तो नीरोग आदमी भी बीमार पड़ जायगा। सो तो तुम्हारा शरीर इतना टूट गया है कि मुझे चिन्ता हो रही है।" मेरे पति ने दया की भीख माँगनेवाली निगाह से मुझे देखा। मैं विरोध करती, किन्तु उनकी लाचारी से भरी कातर मुद्रा देखकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु मैंने कहा—"तुम्हें यह सोचना चाहिए कि इनका उठना-बैठना अभी उचित नहीं है। हृद्रोग में पूरा आराम चाहिए। इस समय इन्हें कहीं भी ले जाना इनके लिये अहितकर होगा।"

उसने आँखें तरेरकर मेरी ओर देखा और कहा—"यहाँ इनकी वैसी सेवा नहीं हो सकती। गाँव की गँवार औरत, क्या जाने नर्सिंग का हाल! सो तुम्हें यह सोचना चाहिए कि मैं जो कुछ करने जा रही

हूँ, वह तुम्हारे हित के लिये। हाँ जी, मेरी राय है कि तुम चलो। मैं सवारी लाने का आदेश देती हूँ। क्या राय है? बोलो··· ?"

इतना कहकर उसने इस बुरी तरह मेरे अभागे पति को घूरा कि उनका मुँह सूख गया। वे असमंजस में पड़कर छत की ओर ताकने लगे और मैं उबलने लगी। जब मैंने उन्हें धर्म-संकट में फँसा हुआ देखा, तो मेरा हृदय करुणा से भर गया। मैं बोली—"मैं यह जानती हूँ कि इनके प्रति तुम्हारा स्नेह अगाध है, किन्तु······।"

वह तेजी से बोली—"मैं किन्तु-परन्तु नहीं जानती। ये यहाँ खतरे में हैं। मुझे सब कुछ ज्ञात है। तुम-सी गाँव की औरतों की नाक में नकेल डालकर मैं नित्य नचाया करती हूँ। दया करके इनके प्राणों को अभयदान दो। मैं एक क्षण भी इन्हें खतरे में छोड़ना नहीं चाहती।"

मैं सन्नाटे में आ गयी। यह तो भयानक लांछन था। क्रोध के मारे मेरा सारा शरीर झुलसने लगा। मैं फिर भी शान्त बनी रही और बोली—"यह तो तुम बहुत ही भयंकर बात बोल रही हो। यदि झगड़ा करने के उपाय खोजना ही तुम्हारा गुप्त उद्देश्य हो तो मैं कहूँगी कि तुम्हें विफलप्रयास होकर लौटना पड़ेगा।"

वह तमककर खाट से उठी और दोनों हाथ नचाकर बोली—"सुन रहे हो, यह मेरा अपमान कर रही है। जब तुम चुपचाप मुझे अपमानित होना देख रहे हो, तो फिर संदेह का स्थान कहाँ रह गया?"

इतना बोलकर वह इस तरह साँस लेने लगी, जैसे मृगी का दौरा होने ही वाला हो। मैं सहमी-सी अपने पति का मुँह देख रही थी, जो रह-रहकर तमतमा उठता था और कभी चिन्ताकुल-सा हो जाता था। वे कराहकर बोले—"बिजली, यह समय विवाद का नहीं है। मैं तो चलने को तैयार हूँ; फिर इतना हो-हल्ला क्यों?" बिजलीबाला का

फन कुछ झुक गया। वह विजयी वीर की तरह मुझे घूरती हुई घृणा से मुँह बिचकाकर बोली—"इस औरत को बात करने की तमीज भी तो नहीं है। तुमने इसे किस जंगल से फँसाकर लाया है?"

मैं फिर भी शान्त बनी रही। मैं जानती थी कि बलवान दुहाई नहीं दिया करते। जब मेरे पति जाने की व्यवस्था करने लगे, तो मैंने उन्हें रोककर कहा—"तुम खाट से उतर नहीं सकते। जब तक डाक्टर का हुक्म नहीं होता, दुनिया में कोई भी इतनी ताकत नहीं रखता, जो तुम्हें खींचकर ले जाय। चुपचाप पड़े रहो और जब रोग छूट जाय तब जहाँ जी चाहे चले जाना। मैं तुम्हें एक क्षण भी रोकना नहीं चाहूँगी।"

बनमाली

५

विभा चली गयी तो क्या, आखिर मैं भी बेकार नहीं रहा। कालेज की पढ़ाई और नेतागिरी साथ-साथ होना संभव नहीं है। जब संसार में कुछ करके दिखलाने का बल मेरी आत्मा में है, तो फिर विभाकुमारी के नाम का रात-दिन चर्खा कातना क्या उचित है? फिर भी एक बात कहूँगा। न जाने उस छोकरी में कौन-सी विशेषता थी, जिसके चलते वह अपने पीछे पचासों मजनू छोड़ गयी। उस दिन सतीश ने भी पूछा कि वह छोकरी कहाँ गयी और संन्यासी बाबा ने भी कई बार उसकी खोज करने का अनुग्रह किया। वह बेचारा डाक्टर, जो कल ही अमेरिका से बड़ी-बड़ी डिग्रियों के साथ लौटा है, विभा की चिन्ता में व्यस्त है। लोग पूछते हैं और दुःख से मेरी छाती छलनी हो जाती है।

सतीश ने यद्यपि कालेज के होस्टल का परित्याग कर दिया; किन्तु उसके सिर पर भी विभा का भूत सवार रहता है!

कल उसके भाई से अचानक मुलाकात हो गयी। मैंने उसे प्रायः एक साल के बाद ही तो देखा। क्या कहने हैं! चेहरे पर हाथ भर की फहराती हुई दाढ़ी और सिर घुँटा हुआ। पूछने पर उस सनकी ने कहा—"एक विशेष प्रकार के योग का साधन कर रहा हूँ।"

बाप की कमाई पर योगाभ्यास करनेवालों की कमी संसार में नहीं है। मैं चाहता हूँ कि योगीराज बनूँ, किन्तु ध्यान लगा हुआ है परीक्षा-फल की ओर। योग-साधन हो तो कैसे? बातों-ही-बातों में उस बहुरूपिये ने कहा कि संन्यासी का आदेश है, हमें कष्ट-सहिष्णु बनना चाहिए; क्योंकि देश की सेवा वही कर सकता है जिसके जबड़े में लोहे के चने चबाने की ताकत हो। मैं उनका आदेश मानकर अपने आपको बिल्कुल रेगिस्तानी ऊँट बना डालूँगा, जो पन्द्रह दिनों तक पानी भी नहीं पीता और लगातार दौड़ता रहता है।

वह अपना भाषण दे रहा था और मैं हवा में उड़नेवाली उसकी दाढ़ी को देख रहा था। मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"जी चाहे जैसा साधन करो; किन्तु इस भयंकर दाढ़ी को किसी सेलून वगैरह में जाकर...।"

वह मुँह फाड़कर एक टक मेरी ओर इस तरह देखने लगा कि मैं भय से काँप उठा। वह छः फीट लम्बा पहलवान-जैसा था और उसपर हाथ भर लम्बी दाढ़ी और सिर घुँटा हुआ। मैंने सोचा कि इसका दिमाग फिर गया है; किन्तु इस तरह कुछ देर तक एक टक ताककर बोला—"तुम भी पक्के निहलिस्ट नजर आते हो। क्या यह दाढ़ी साधारण दाढ़ी है जो मुड़वा लूँ? साधना सफल होने पर ही इसका उच्छेद संभव है।"

इतना बोलकर बौड़म की तरह जब वह चला गया, तो मैं उसके घर

की तरफ चला। सोचा, विभा का कुछ समाचार मिल जायगा। दरवाजा पर पहुँचते ही मुझे ऊपर की खिड़की से झाँकती हुई विभा नजर आयी। आग से झुलसा हुआ-सा चेहरा और आँखों के नीचे काली-काली धारियाँ—मैं हक्का-बक्का-सा देखने लगा।

घटना इस प्रकार है कि विभा को उसके पति ने विधिवत् पीट-पाटकर इसलिये घर से निकाल दिया कि उसे यह पक्का सन्देह हो गया था कि विभा उसे विष देने का षड्यन्त्र कर रही है और इस षड्यन्त्र में विभा के भाई भी शामिल हैं।

इस विचित्र घटना के आदि-अन्त का पता मुझे न था; किन्तु विभा ने जो कुछ अपनी माँ से कहा था, उतना ही मैं सुन सका। मैंने आवेश में आकर कहा—"ऐसे राक्षस का खून कर देना चाहिए।"

विभा वहीं पर बैठी थी। उसने अपने कान पर हाथ रखकर कहा—"बनमाली बाबू, आप यदि स्त्री होते तो अपने इस घृणित विचार का महत्त्व समझ पाते।" मैं लज्जित हो गया। काफी अपमानित और लांछित हो जाने के बाद भी विभा के हृदय में अपने अत्याचारी पति के प्रति कटुता नहीं आयी। मैं कह नहीं सकता, यह उस रहस्यमयी नारी का वैयक्तिक गुण था या सचमुच नारी-हृदय की विशेषता थी। मैंने कहा—"विभा, क्या तेरा पति मानव है! कदापि नहीं। वह तो पशु है पशु।" यह बोलते समय मैं उसके पति की तुलना में अपने को रखकर विभा के मन में मलाल पैदा करना चाहता था; किन्तु मुझे इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। विभा की माँ बैठी माला जप रही थी। उसने जल्दी-जल्दी जप समाप्त करके आचमन किया और हाथ जोड़कर इष्टदेव को प्रणाम करके कहा—"बेटा, देखते नहीं, बिटिया

सूखकर सोंठ हो गयी है। मैंने तो अचानक इसे देखकर पहचाना नहीं। एक वर्ष में मानो इसके जीवन के पचास साल बीत गये।"

मैंने प्रयत्न करके अपने स्वर को बहुत ही करुण बनाकर कहा—"मौसी, यह तो पागल हो गयी है। शीशे के सामने खड़ी होकर जरा अपनी शक्ल तो देखे। देखकर खुद डर जायगी। यह उम्र और ऐसी अवस्था! यह तो हिन्दुस्तान है। विलायत में इतनी बड़ी लड़की गुड़िया खेलती है। यहाँ इसे गृहस्थी का नरक भोगना पड़ रहा है। मैंने विवाह के समय ही कहा था कि...।"

विभा पक्की पुरखिन की तरह बोली—"आप अतीत को लेकर क्यों मारने-मरने के लिये उतारू हैं वनमाली बाबू? भवितव्यता की कलम से जो कुछ लिखा जाता है, उसे तलवार से न तो काटा जाता है और न सभा करके उसके खिलाफ प्रस्ताव ही पास किया जाता है। जो होना था, अच्छा ही हुआ। मैं अपनी स्थिति से जब सन्तुष्ट हूँ, तो कोई कारण नहीं कि आप उसकी कटु आलोचना करने का कष्ट उठावें।"

मैं फिर एक बार लज्जित हो गया। विभा मुझे इस तरह मीठे शब्दों से पीटेगी, इसकी आशा मुझे न थी। मैं खीझकर वहाँ से उठा और खुली सड़क पर आते ही मुझे सतीश व्यग्र-सा नजर आया। उसकी दोनों पाकेटों में दवा की छोटी-बड़ी शीशियाँ भरी थीं। मैंने जब उसे रोककर शीशियों का उपाख्यान पूछा, तो वह घबराया हुआ-सा बोला—"अरे भाई! भाई साहब बहुत बीमार हैं। दवा की व्यवस्था करने जा रहा हूँ।"

मैंने साग्रह पूछा—"देहात से तुम्हारे भाई यहाँ आये हैं क्या? कब से बीमार हैं?" वह बोला—"मैं तो अकेला हूँ। यह भाई मेरे

बहुत दूर के हैं। अरे, वे ही बीमार हैं, जिनके यहाँ मेरा रहना होता है। अच्छा भाई! समय नहीं है। आज्ञा चाहता हूँ।"

इतना बोलकर जब वह आगे बढ़ने के लिये मुड़ा तो मैं बोला—"भाई, तुम तो बिल्कुल कवि की तरह बोलते हो। जरा ठहरो तो। क्या बीमारी बहुत बढ़ गयी है? क्या मैं भी तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ? मित्र-धर्म का पालन तो होना ही चाहिए। आदेश चाहता हूँ।"

सतीश खिन्न कंठ से बोला—"धन्यवाद बनमाली। सहायता की आवश्यकता होने पर और किसे खोजूँगा? किन्तु, अभी जाने की आज्ञा चाहता हूँ।"

इतना बोलकर वह चला गया। मैंने यही अनुभव किया कि यद्यपि दवा भी एक आवश्यक वस्तु है; किन्तु न जाने क्यों सतीश अब अपने मित्रों से दूर-दूर रहना ही पसन्द करता है। जल्दी से भाग निकलने का कारण दवा को बनाया गया; किन्तु सही बात तो यह है कि वह अब निगाहचोर हो चुका है। पता नहीं, ऐसी कौन-सी घटना उसके जीवन में घटित हुई, जिसने इस वीर युवक को बिल्कुल ही ऐसा बना दिया है कि वह मानवमात्र से भयत्रस्त रहने लगा है। यदि यह रोग बढ़ा तो किसी दिन सतीश अपने आप से डरने लगेगा। मानव की जब ऐसी अवस्था आ जाती है तब वह या तो आत्महत्या कर लेता है या सनक उठता है।

चार-पाँच दिनों के बाद मैंने फिर सतीश को एक दूकान पर देखा। वह अच्छा-से-अच्छा तेल और कुछ सौन्दर्यप्रसाधन वस्तुओं की खरीद कर रहा था। उनमें से कुछ चीजें ऐसी थीं, जिन्हें केवल स्त्रियाँ याने नवजवान स्त्रियाँ ही काम में लाती हैं। होठ पर लगानेवाले

लिपस्टिक भी इन्हीं वस्तुओं में से एक है । मैंने जब सारा तमाशा देख लिया, तो हठात् सतीश का कन्धा छू लिया । वह चौंक उठा । मैंने पूछा—"उस्तादजी, यह क्या मामला है ? चुपके-चुपके हल्दी से हाथ भी हजरत रंग चुके और क्वाँरापन के नखरे भी किये फिरते हैं । आज तुम रंगे हाथों पकड़े गये । बोलो, यह लिपस्टिक किस रोगी की दवा है । जरा बतलाना तो !"

सतीश का चेहरा फक् हो गया । काटो तो उसके शरीर में खून नहीं । वह चोर की तरह सफाई देने की चेष्टा करता हुआ बोलने लगा—"यह एक मित्र के लिये खरीद रहा हूँ । तुम भी बड़े संदेही स्वभाव के व्यक्ति हो ।"

मैंने कहा—"मैं तुम्हारे रुग्न भाई साहब को एक बार देखना चाहता हूँ । तुम मकान का पता बतला दो तो भाई !"

वह अकचकाया और टालने की नीयत से बोला—"वहीं तो जहाँ तुम एक बार मेरे साथ गये थे । पार्क के पीछे···बस समझ गये न ?"

मैं बोला—"आखिर उनका शरीर कैसा है ? देखता हूँ, आज तुम निश्चिन्त नजर आ रहे हो । इतनी शांति और उल्लास तो मैंने कभी तुम्हारे चेहरे पर नहीं देखा था । जान पड़ता है, आजकल तुम चैन की वंशी बजा रहे हो ।"

सतीश अपराधी की तरह मुँह बनाकर बोला—"तुम बहुत ही हीनचेता व्यक्ति हो । भाई साहब तो तीन साल से बीमार हैं । जब बीमारी बढ़ जाती, तो मन उदास हो जाता है और जब······।"

"समझ गया"—मैंने कहा—"तो अब तुम्हारे भाई साहब अच्छे हैं । खैर, ईश्वर को धन्यवाद ! किन्तु मुझे तुम अपना घर तो दिखला

दो। यदि जी ऊबेगा तो दो घड़ी मन बहला आया करूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

बहुत ही असमंजस में पड़कर वह कहने लगा—"भाई, क्या बतलाऊँ, पराधीनता मानव को पशु बना डालती है। भाई साहब पुराने रोगी हैं। लीवर, प्लीहा और न जाने क्या-क्या है। स्वभाव इतना चिड़चिड़ा हो गया है कि अपने ऊपर झुँझलाया करते हैं। किसी का आना-जाना उन्हें रुचता नहीं। मैं अपने किसी परिचित को वहाँ बुला नहीं सकता। उन्होंने साफ-साफ कहकर मुझे सावधान कर दिया है।"

यद्यपि सतीश बहुत ही विश्वासोत्पादक ढंग से बोल गया, किन्तु मेरा मन संदेही बना रह गया। जो हो, मैंने अधिक बखेड़ा उचित न समझकर जब आगे बढ़ा तो वह बोला—"भाई! संन्यासीजी हैं या चले गये?"

मैंने कहा—"वे जायँगे कहाँ! संसार में कहीं ठौर-ठिकाना भी हो। अच्छा हो कि तुम उनके पास आने-जाने का समय निकालो। ऐसा व्यक्ति दुर्लभ होता है।" इसमें संदेह नहीं कि सतीश का मन किसी गम्भीर उलझन में उलझकर सदा व्यग्र रहता था। वह अपनी विकलता को मिटाना चाहता था या कुछ गहरे और बिल्कुल निजी सवालों से छुटकारा पाना चाहता था। पहले तो वह बहुत ही प्रसन्न और फूल की तरह कोमल दिखाई पड़ता था; किन्तु उस दिन मैंने तो उसे न तो प्रसन्न देखा और न विकसित। जिस तरह बरसात में पुराना काठ उकठा हो जाता है, उसी तरह वह भी उकठा हो गया था। रूप वही था, किन्तु उस रूप के भीतर से पवित्र लुनाई के बदले में शैतान झाँकता था। वह

एकाएक इतना क्यों बदल गया, यह तो परमात्मा ही जाने; किन्तु मैंने सोच लिया कि अब उसकी मानसिक बाढ़ रुक गयी और वह थोड़ी ही जगह में चक्कर खाता हुआ जीवन के दिन व्यतीत कर डालेगा। सीधी और सरपट दौड़ के उसके दिन लद गये।

संन्यासीजी के यहाँ मैंने उसे देखा; किन्तु वह ऊबा-ऊबा-सा दिखलाई पड़ा। वहाँ भी उसका मन नहीं लग रहा था। संन्यासीजी ने भी अपनी गृहस्थी बसा ली थी। दो दुधार गायें भी दरवाजे पर बँधी थीं तथा दो-चार दास-दासियाँ भी दिखलाई पड़ती थीं। इतना ही नहीं, वह घर आश्रम बन चुका था और उस आश्रम के मुखिया थे स्वामीजी महाराज, जो देश में एक ऐसा दल तैयार कर रहे थे, जो एक ही हुङ्कार से देशोद्धार कर डालने की क्षमता रखता हो। संन्यासीजी का विचार था कि वीर पैदा नहीं होते, उनका निर्माण किया जाता है। उनके दादा-गुरु के दादा-गुरु ने शिवाजी को वीर के रूप में गढ़ा था। इस तरह की बातें जो संन्यासीजी कहा करते थे, कालेज के गरम दिमाग नवयुवकों को बहुत ही भली लगती थीं; किन्तु जब दो-चार अपरिचित सूरतें उस आश्रम के आस-पास मड़राती नजर आने लगीं, तो कुछ देशोद्धारक तो खिसक गये और कुछ के कान खड़े हो गये। जो चलते बने, उनका नाम कायरों की काली बही में लिखी गयी और जो कान खड़े किये डटे रहे, वे शिवाजी की तलवार के उत्तराधिकारी माने गये। मैं और शतीश भी इन्हीं वन्दनीय वीरों में गिने जाते थे। दो-चार लजीली छोकरियाँ भी रह गयीं। जो भारत-जननी की प्रतिमूर्ति मानकर पूजित हुईं; किन्तु संन्यासीजी ने यह नहीं समझा कि हम युवक और नवयुवतियाँ एक दूसरे को वहाँ कायम रखने के कारण थे। सतीश ने एक दिन कहा—"वनमाली, ये

कौन हैं जो भीतर तो आते नहीं, बाहर से ही नयन-बाण मारा करते हैं। हमपर यदि ये इतने आशिक हैं, तो निकट आकर आँखों की भूख मिटाने से इन्हें रोकता ही कौन है ?"

मैंने उस भावुक नौजवान को समझा दिया कि वे और कोई नहीं, सरकार के पालतू हैं, जो जमीन सूँघकर ऐसे-ऐसे चमत्कार कर दिखलाते हैं कि कोई भी सिद्ध जादूगर वैसा कर नहीं सकता।

सतीश मुस्कराया, किन्तु रुककर फिर कहने लगा—"वे भी तो हमारी ही तरह भारतीय हैं; फिर इस जघन्य व्यापार को क्यों प्रश्रय देते हैं ? मैं जानता हूँ कि प्रत्येक गुलाम देश में संस्कारहीन व्यक्तियों की बहुलता होती है, किन्तु यहाँ का तो हाल ही अजीबोगरीब है।"

यद्यपि सतीश बिल्कुल भोलाभाला बनकर बोल रहा था; किन्तु मैं तो जानता था कि वह एम० ए० का एक इतना प्रखर विद्यार्थी है कि सारा कालेज उसके सामने नतमस्तक होता है। स्वामीजी ने भी सतीश को यह समझाने का प्रयत्न किया कि अवसर के अनुसार काम करना अधिक उपयुक्त होता है; किन्तु यह बात उसके दिमाग में नहीं आयी। वह यही कहता गया कि अवसर तो बनाया जाता है। परिस्थिति को लाने और मिटा टालने की ताकत हममें होनी चाहिए। यदि इतना बल भी संचय नहीं कर सके, तो अच्छा है कि किसी आफिस में बड़ा बाबू बनकर आराम से मौत आने की राह देखी जाय।

एक दिन पुलिस ने आश्रम को एक प्रकार से दिन-दहाड़े लूट लिया और कुछ ऐसी चीजें भी आश्रम से निकल पड़ीं जिनका पता न तो स्वामीजी को था और न हममें से किसी को। सतीश ने जब यह कहानी सुनी तो उसने कहा—"जरूर सरकार के पालतू जादूगर के भी

चाचा होते हैं। जो चीजें आश्रम से प्रकट की गयी हैं, उनका नाम तो पुस्तकों में मैंने जरूर पढ़ा था; किन्तु देखने का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ था।"

सतीश से बातें करके जब मैं लौट रहा था, तो मुझे भी पकड़ लिया गया और फिर बड़े समारोह से सरकारी धर्मशाले में भेज दिया गया। मैं तो चकित हो गया। थाने पर मुझे एक अलग कमरे में बन्द करके पहले तो पीटा गया और फिर एक सादे कागज पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। जब मैंने इनकार किया तो फिर इस बुरी तरह पीटा गया कि मैं जीवन से निराश हो गया। जितना ही मुझे पीटा जाता, मैं उतना ही कठोर होता जाता। मानो ठुकाई होने से मेरे शरीर की मांसपेशियाँ नहीं, बल्कि मन के परमाणु अधिकाधिक कठोर होते जा रहे हैं। यों तो अपमान और मार-पीट से किसका हृदय खिन्न नहीं होता ? किन्तु, मैं समझ रहा था कि जो कुछ मुझपर बीत रहा है, वह मेरी अग्नि-परीक्षा हो रही है। मेरे साथ जो दूधमुँहे छोकरे बन्द किये गये थे, उनसे मेरा कभी का परिचय न था ; किन्तु मुझे यह कहा जाता था कि मैं इन्हें अपना साथी घोषित करूँ और यह कहूँ कि अमुक को मैंने बम्बई में काम करते देखा है तो अमुक को तिब्बत में। सच्ची बात यह है कि मैंने बम्बई को केवल नक्शे में तब देखा था, जब स्कूल में पढ़ा करता था। रात को नित्य एक बंगाली वृद्ध मेरे कमरे में आकर रोते थे और कहा करते थे—"यदि तुम मेरी बात मान लो तो तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल हो जाय। मैं भी तो दिल से निहलिस्ट था, किन्तु जब मैंने अपनी गलती समझ ली, तो देखो आज तीन सौ वेतन और दस रुपये नित्य भत्ता पा रहा हूँ। मैं भी तो पहले जेल भेजा गया था।"

जेल का रूप मुझे बहुत ही मनहूस-सा लगता था। ऊँची-ऊँची

दीवारों से घिरा हुआ वह डरावना-सा स्थान मन को इतना चारों ओर से दबा देता था कि यदि मैं चाहता भी कि कुछ सोचूँ, किन्तु सोचने की शक्ति ही मानो पंगु हो गयी थी। एक रात को दो-तीन लम्बे-लम्बे जवान मेरी कोठरी में आये और बिना कुछ कहे हठात् पीटना आरंभ किया। पहले तो मेरे मुँह में कपड़ा ठूँसा गया और फिर ठोकरों से इतना मारा गया कि जब मैं होश में आया तो मैंने अपने आपको अस्पताल में पाया। शरीर का कोई हिस्सा बाकी न था, जहाँ पर मार के निशान न हों; पर मैं भीतर से शान्त बना रहा। मैंने तय कर लिया था कि किसी-न-किसी तरह मुझे यहाँ से बाहर जाना ही है और बाहर पहुँच-कर फिर देखा जायगा कि···। मैंने जेलर से एक दिन कहा—"अब किस दिन मेरी पिटाई होगी? जी नहीं लगता।"

जेलर अच्छी तरह मुझे घूरता हुआ बोला—"तुम आदमी हो या दैत्य?" मैंने कहा—"यदि आप ईश्वर को मानते हैं तो मैं उसी को साक्षी मानकर कहता हूँ कि मैं एक विद्यार्थीमात्र हूँ। जिन चीजों की खोज आप लोग कर रहे हैं, उनसे मेरा कोई वास्ता नहीं है; किन्तु आप लोगों ने दया करके मुझे दैत्य बना डाला। अब और जो कुछ कसर रह गयी हो, वह भी पूरी हो जाय तो मैं यहाँ से आपकी सेवा करने की शक्ति लेकर बाहर निकलूँ।"

जेलर दो कदम पीछे हटकर खड़ा हो गया और गुर्राकर बोला—"जीते-जी तुम बाहर नहीं निकल सकते। मैं जानता हूँ, तुम खतरनाक आदमी हो।"

मैं बोला—"देखा जायगा।"

तीसरे महीने मैं छोड़ दिया गया। इन तीन महीनों में जो-जो

अत्याचार इस देह को भोगने पड़े, वह कहना व्यर्थ है। किन्तु, जेल से छूटते ही मैंने अपने आपको पूरी तरह बदला हुआ पाया। मेरे भीतर मानवता का उदय तो हुआ, किन्तु जीवन के प्रति तनिक भी मोह नहीं रह गया। दो-चार छोकरे और भी प्रमाणाभाव से छूटे, जो बाहर आते ही रथ लाओ, अस्त्र लाओ, सेना लाओ की पुकार मचाते हुए कहाँ चले गये, इसका पता किसी को भी न चला। अखबारों में जो सनसनी से भरी घटनाएँ हम पढ़ते रहे, उन घटनाओं का रहस्य अब समझ में आने लगा। सरकार के पालतू उपदेवताओं के प्रसाद से देश में कितने छोकरों का दिमाग बिगड़ा, यह मैं लिखने नहीं बैठा हूँ; किन्तु सतीश-जैसा शान्त व्यक्ति जब विक्षिप्त-सा हो गया तो मेरे हाथ के तोते उड़ गये।

पता चला कि संन्यासीजी एक दूसरी गंदी गली में फिर आसन जमाकर अपने उपदेशों से अपना ध्येय पूरा कर रहे हैं। हम एक बार फिर वहाँ जुटने लगे; किन्तु इस बार सारा काम बहुत ही सावधानी से होता था।

सतीश भी आता था, किन्तु यदा-कदा। वह कुछ अनमना-सा और खिन्न रहता था; किन्तु उसकी खिन्नता इतनी छिपी हुई थी कि साधारण व्यक्ति उसे भाँप नहीं सकता था। जब अचानक एक दिन आश्रम में नया योद्धा पधारे, तो सतीश बहुत ही खिन्न हुआ। वह बोला—"सुमित्र, अब तो मैं बिदा होता हूँ। यह योद्धा किसी दिन हम सबको ले डूबेगा। मैं इसकी आँखों में काईयाँपन देखता हूँ, जो किसी साफ दिल के सिपाही के लिये कलंक है।"

मैं बोला—"इतना संदिग्ध चित्त लेकर संसार में रहा नहीं जा

सकता। मैं तो यही समझता हूँ, यह व्यक्ति कुछ सनकी है; किन्तु संन्यासीजी जब इसका आदर करते हैं, तो यह शंका भी मिट जाती है।"

सतीश का मन अपने ही केन्द्र पर टिका रह गया और उसने आश्रम का परित्याग कर दिया।

जो व्यक्ति आया था, वह अपने को पंजाबी कहता था; किन्तु बहुत-सी भाषाएँ बोलता था। सीधा तनकर चलता था, किन्तु बातें करता था सनकी की तरह। वह प्रायः अकाल की ही चर्चा करता था और बोलते-बोलते उठकर टहलने लगता था। उसकी उमेठी हुई मूँछें और भरा हुआ चेहरा यह बतलाता था कि उसके भीतर भी कुछ है। आश्रम के छोकरों में उसकी धाक बँध गयी और उसके साहस की प्रशंसा सभी करते थे। उसने एक दिन कहा—"बनमाली बाबू, तुमने जेल में कमजोरी प्रकट करके अच्छा नहीं किया।"

मैंने कहा—"मैं संन्यासीजी से दर्शन का अध्ययन करने यहाँ आया हूँ, और जिस तरह की बातें तुम बोला करते हो, उसका तात्पर्य मैं नहीं समझता।"

वह बोला—"मैं भारत के प्रत्येक जेल की रोटियाँ खा चुका हूँ। मैं जानता हूँ कि पुलिस की ताकत कितनी है। यदि भयभीत होने की आदत होती तो आज मैं आई० सी० एस० बनकर रुपयों का अम्बार लगा देता। देश की दशा देखकर मेरा दिल कहरता रहता है। आप नवयुवक बहुत ही कमजोर हैं। साहसिक जीवन व्यतीत करना बच्चों का काम नहीं है।"

मैं हँसकर बोला—"आप उन्हें समझाइये जो देश के लिये

आतुर हों। मैं तो एक विद्यार्थीमात्र हूँ। इन बातों से मुझे कोई वास्ता नहीं। क्षमा कीजियेगा।" मैंने देखा कि वह जरा भी मेरे उत्तर से अप्रतिभ नहीं हुआ, बल्कि उसने और भी जोर देकर कहा—"तो फिर यहाँ क्यों झख मारा करते हो? मैं जानता हूँ, संन्यासीजी संगठन करने के विचार से ही भारत भ्रमण करते हुए यहाँ भी पधारे हैं। मेरा भी यही काम है। मैं तुम-सा छोकरों को अच्छी तरह जानता हूँ। तुम सभी पाकेटमार हो।"

मैं झुँझला उठा और उसके फूले हुए गाल पर एक तमाचा इस जोर से मारा कि पहले तो वह घबरा उठा; किन्तु फिर सँभलकर मेरी ओर झपटा। जो दो-चार लड़के बैठे थे, उन्होंने बीच में पड़कर झगड़े को बढ़ने से तो रोक दिया; किन्तु मैंने दूसरे ही दिन से अपने को अरक्षित रूप में पाया। छाया की तरह दो-तीन अज्ञात व्यक्ति मेरा पीछा करने लगे। कालेज में भी मुझपर निगाह रक्खी जाने लगी, और वहाँ मैंने अपने कुछ साथियों को ही इस पुनीत कार्य में उत्साहित देखा। मैं तो चकित हो गया और एक दिन कालेज को विधिवत् प्रणाम करके बंगाल की ओर चलता बना। रात-दिन शंकाग्रस्त चित्त रहने से मन अशान्त रहता है और अशांत मन के चलते कोई काम ठीक तरीके से नहीं होता। चलते समय मैंने संन्यासीजी से कहा कि आपने आस्तीन में जो साँप पाल रक्खा है, वह किसी-न-किसी दिन आपमें-से प्रत्येक को चुपचाप चुटककर चलता बनेगा और फिर जेल के जूते खाते-खाते जीवन को समाप्त कर देना पड़ेगा।

स्वामीजी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"आखिर इस पिशाच से पिंड कैसे छूटे? मैं तो सभी उपाय करके थक गया।"

मेरे ही निकट एक दूसरा आवारा छोकरा खड़ा था, जो रात-दिन शराबखाने और वर्जित स्थानों में ही रहने का अभ्यासी हो गया था। वह अक्खड़ और लापरवाह स्वभाव का था। उसने कहा—"मुझे आदेश दीजिये तो मैं इस आपदा से आश्रम का उद्धार कर सकता हूँ। मैं तो आपको अपना गुरु मान चुका हूँ और आपके कष्ट को मिटाना मेरा धर्म है।"

स्वामीजी ने स्नेह और कृतज्ञता से उस छोकरे की पीठ पर हाथ रखकर कहा—"गोपाल, तू बड़ा शैतान है।"

सतीश

६

छुटकारा, बस छुटकारा !

दुनिया यही चाहती है और मैं भी यही चाहता हूँ। छुटकारा चाहता हूँ और छुटकारे के लिये जिस प्रयत्न को अपनाता हूँ, वह फिर बन्धन बनकर विकल कर डालता है। क्या जीवन भर यही करता रहूँगा ? समझ में नहीं आता। कालेज के अवांछनीय वातावरण से ऊबकर अपने तथाकथित भाई साहब की शरण में आया। मन को आंशिक शान्ति मिली और सोचने लगा कि अब पढ़ाई का काम निर्विघ्न समाप्त होगा; किन्तु मेरी धारणा भी मेरी ही आँखों के सामने धराशायी हो गयी। यहाँ पहुँचते ही अनुराधा का साथ हुआ। अनुराधा एक अनिंद्य रूपवती युवती है और उसका अध्ययन भी असाधारण है। यद्यपि मैं आज एम० ए० का विद्यार्थी हूँ और बराबर प्रथम

आने के कारण कालेज में मेरा मान है ; किन्तु उस युवती के स्वाध्याय की तुलना में मुझे लज्जित होने का अवसर प्रायः आता ही रहता है। उसका कलाज्ञान और शास्त्रज्ञान अभिनन्दनीय है। उसकी तर्कशैली भी झुँझला देनेवाली है। किन्तु, मैं देखता हूँ कि आखिर वह औरत है और औरत होने के कारण उसका बल असीम है।

वह प्रायः तर्क का आश्रय ग्रहण करना पसन्द नहीं करती ; किन्तु जब उसका स्व याने अहंभाव जाग जाता है, तो फिर सँभालना कठिन हो जाता है। मैं इस वातावरण से भी छुटकारा चाहता हूँ। जब विकल होकर घर की ओर भागता हूँ, तो एकाध सप्ताह तो घर के खेतों में जी बहलता है ; किन्तु फिर अनुराधा आँखों के आगे नाचने लगती है। मेरी इस कमजोरी को वह विदुषी सुन्दरी नारी समझती है। पिछली बार जब मैं घर जाने के लिये हठ करने लगा, तो मेरे भाई साहब ने करुणा का जाल फेंककर मेरे मनपंछी को फँसा लेना चाहा ; किन्तु अनुराधा ने मेरा ही समर्थन किया। उसने अपने पति से कहा—"तुम सतीश को क्यों रोकते हो ! इसके भी माता-पिता हैं। इस तरह रोकने से तो इसका मन सदा के लिये खट्टा हो जायगा।"

इतना बोलकर वह मेरी ओर मुड़ी और बहुत ही स्नेह भरी आवाज में बोली—"नहीं बाबू, मैं नहीं रोकती। तुम घर जाओ और जितने दिन चाहो रहो। हाँ, एक बात ध्यान में रखना, वह यह कि जाते ही कुशल संवाद भेजना।" इतना बोलकर वह रसोई घर में जाकर बिलकुल आराम से चूल्हा फूँकने लगी। मैं जैसे हक्का-बक्का हो गया। मन-ही-मन मैं खिन्न भी हुआ। ऐसी उपेक्षा...... ! सोचा यह मेरी अन्तिम विदाई है। जाने के कुछ समय पहले मैं अनुराधा के निकट

बिदाई लेने गया। सोचा, शायद अकेले में कुछ कहे ; किन्तु मैंने उसे पूर्ण रूप से शान्त पाया। मैंने कहा—"भाभी !"

वह अपनी लम्बी-लम्बी पलकें उठाकर बोली—"क्या कहते हो भाभी को ?"

मैं कहने लगा—"तुमने तो जैसे झाड़ू लेकर मुझे इस घर से खदेड़ दिया। यह कैसी बात है भाभी ? मेरा अपराध क्या है ?"

वह मुस्कराई और फिर सँभलकर बोली—"अभी तक तो मैंने झाड़ू मारकर केवल अपने सौभाग्य को ही खदेड़ा है ; किन्तु किसी दिन यदि तुम्हें भी खदेड़ दूँ तो इसमें आश्चर्य नहीं है। क्योंकि तुम भी मेरे सौभाग्य की ही तरह हो।"

इतना बोलकर वह मूर्त्ति की तरह चुप हो गयी। मैं अकचकाया सा उसके सुन्दर मुख की ओर देखता रह गया। कुछ क्षण के बाद वह फिर बोली—"क्या देख रहे हो बाबू ?"

मैं अपने धड़कते हुए हृदय को सँभालकर बोला—"कुछ नहीं भाभी ! जो चीज मुझे बहुत ही प्रिय है, उसीको देख रहा हूँ। कारण यह है कि उसे साथ लेकर तो जा नहीं सकता। तस्वीर उतार रहा हूँ। क्या इतना भी अधिकार नहीं है भाभी ?"

अनुराधा ने कहा—"इस जली तस्वीर को ले जाकर किस कमरे की दीवार का सौन्दर्य नष्ट करोगे ? झूठ न बोलना। मैं धोखे में नहीं आऊँगी।" मैं कुछ देर तो चुपचाप खड़ा रहा और फिर अपनी छाती पर हाथ रखकर कहा—"इस ढही हुई दीवार में जली हुई तस्वीर आदर पावेगी भाभी ?"

बोलने को तो मैं आवेश में आकर बोल गया, किन्तु मुझसे वहाँ ठहरा न गया। मैं तेजी से चला गया और अपने कमरे में भीतर से

किवाड़ बन्द करके बैठ गया। गाड़ी जाने में देर थी और सामान बाँध चुका था। रात को १० बजे गाड़ी जाती थी और स्टेशन था थोड़ी ही दूर पर। थोड़ी देर के बाद किसीने धीरे-धीरे मेरे कमरे के दरवाजे वाले को ठेला। दरवाजा खुला और अनुराधा ने भीतर प्रवेश किया। कमरे में प्रकाश न था, किन्तु खुली हुई खिड़कियों से चाँद झाँक रहा था। अनुराधा स्वप्न की तरह भीतर आयी और इस तरह खड़ी हो गयी कि मैं सहमकर खाट से उठ खड़ा हुआ। मैंने धीरे से कहा—"भाभी, तुम! अगर भैया देख लें तो?...दया करके चली जाओ।"

अनुराधा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह फिर बिना एक शब्द बोले लौट गयी और उसी तरह सीढ़ियों को तय करती हुई ऊपर चली गयी। मेरी शंका निर्मूल न थी! भाई साहब ने मुझे तुरंत पुकारा। उनकी पुकार मुझे मौत की पुकार की तरह बुरी और दिल दहलानेवाली लगी। मैंने घबराकर उत्तर दिया। जब मैं उनके निकट गया तो उन्होंने संदेह भरे स्वर में पूछा—"तुम किससे बात कर रहे थे?"

मैं इतना भीत हो गया कि कोई ठीक-ठीक उत्तर न सूझ पड़ा। कुछ भी तो जवाब देना ही चाहिए था, नहीं तो संदेह सदेह होकर मेरा गला दबा देता। मैं बोला—'जी, बिल्ली घुस आयी थी·····वही भूरी बिल्ली।"

भाई साहब बोले—"तुम्हारी भाभी कहाँ है?"

चाक की तरह मेरा दिमाग घूम गया। यदि मैं कुर्सी की पीठ का सहारा न लेता तो शायद गिर पड़ता। मैंने कहा—"शायद ऊपर होंगी। मैंने उन्हें बहुत देर से नहीं देखा। बुला लाऊँ?"

भाई साहब ने अपने सिरहाने के तकिये को ठीक करने का मुझे आदेश दिया और कहा—"कोई जरूरत नहीं है। तुम अधिक दिनों

तक घर पर नहीं रुकना। मैं अनुराधा को इसीलिये खोज रहा था कि अपने भाईजी को एक पत्र उससे लिखवाकर दे दूँ। और कोई विशेष प्रयोजन इस समय नहीं है।"

मेरी जान में जान आयी। मैं अनुराधा को बुलाने के लिये जब कमरे से बाहर निकला तो वे फिर बोले—"तुमने भोजन तो कर लिया होगा। मेरे लिये दूध लाने की उन्हें याद करा देना।"

मैंने ऊपर जाकर देखा, अनुराधा औंधे-मुँह खाट पर पड़ी है और सिसक-सिसककर रो रही है। मैंने जरा जोर से इसलिये पुकारा कि निचली मंजिल के उस कमरे तक मेरी आवाज पहुँच जाय, जहाँ भाई साहब पड़े थे। अनुराधा जब खाट से नहीं उठी, तो मैंने जाकर उसका कन्धा छू दिया! वह तेजी से उठ बैठी और बोली—"तुमने मुझे क्यों छू दिया! मैं अब तुम्हारा मुँह देखना नहीं चाहती। जहाँ जाते हो जाओ और कहे देती हूँ, फिर लौटकर यहाँ न आना।"

मैं घबराकर दो कदम पीछे हट गया। वह खाट से उतरती हुई बोली—"तुम-जैसे व्यक्ति का साथ करना अपने जीवन को मटियामेट कर देना है। मैं अब भूल नहीं करूँगी।"

मैं बोला—भैया दूध माँग रहे है। तुम्हारे जाने के बाद ही उन्होंने मुझे बुलाकर पूछताछ आरंभ कर दी। तुम नाहक नाराज होती हो। यों तो मैंने कोई भी ऐसा काम नहीं किया, जो तुम्हारे लिए अप्रिय हो, किन्तु···।" अनुराधा ने कोई जवाब नहीं दिया।

गाड़ी का समय हो गया था। पिताजी के नाम का पत्र मुझे दिया गया और जब मैं चलते समय अनुराधा के कमरे के दरवाजे पर गया, तो उसे भीतर से बन्द पाया। बाहर से ही नमस्कार किया, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने भी निश्चय कर लिया कि अब फिर लौटकर इस

के जाने के बाद पिताजी ने मुझसे कहा—"आखिर तुमने एक उपद्रव खड़ा कर ही दिया।"

उस दिन मैंने उत्तर दिया—"यह तो उचित ही हुआ। ग्वालों का दूध नित्य लूटकर अपना स्वास्थ्य बनाना क्या जमींदारी कानून के अन्तर्गत है? मैं कानून का विद्यार्थी हूँ और जानता हूँ कि किसी का घर लूटना कितना बड़ा अपराध है।"

बाबूजी चुप लगा गये, किन्तु गाँव के बहुत-से बूढ़ों ने मिलकर मेरी भरपेट निन्दा की। कुछ पंचों ने जमींदार के दरबार में जाकर सारा पाप मेरे सिर पर सफाई से लादकर कहा—"सरकार की जूतियों की बदौलत हम बाल-बच्चों को पाल-पोस रहे हैं। इस छोकरे ने ही उन मूर्ख ग्वालों को उभाड़ कर अनर्थ करवाया है।"

यह समाचार जब मुझे मिला तो मेरा मन तिक्तता से भर गया और मैंने निश्चय किया कि जीवन भर गाँव में कदम नहीं रक्खूँगा।

रात को मैं अपनी कोठरी में लेट गया तो मुझे ऐसा लगा कि अनुराधा विषयावेश में मेरे सामने खड़ी है। मैं उछलकर खाट के नीचे खड़ा हो गया। वह कल्पनासंभूत मूर्ति तिरोहित हो गयी। एक बार मेरे मनप्राण अनुराधा के चित्र से भर गये। सोते-जागते, चलते-फिरते मुझे अनुराधा की ही मूर्ति नजर आने लगी। कभी मैं उसे मुस्कराते देखता तो कभी आँखों में जल लिये। कहने का तात्पर्य यह कि मैं किताब खोलकर तो बैठता, किन्तु पेज-पर-पेज उलट डालने के बाद भी यह बात समझ में नहीं आता कि इन काली-काली पंक्तियों के मानी क्या है? कागज लेकर बैठता तो नाना प्रकार के अक्षरों में केवल अनुराधा के ही नाम लिखा करता। एक दो पत्र भी उसके नाम से लिखकर फाड़ डाले। फाड़ डालने के लिए ही

मैंने उन पत्रों को लिखा था। अपने मन के भावों को दिल खोल-कर लिखता और फिर दो-चार बार पढ़कर कागज के उस टुकड़े को फाड़ डालता। मुझे ऐसा करना प्रिय था। दिन बीतने लगे और मेरा मन इतना विकल हो उठा कि स्नानाहार भी थरमोपोली की लड़ाई बन गये। बीसों तकाजे के बाद मैं स्नान करता और माँ जब तक आकर डाँटडपट नहीं करती, खाने नहीं जाता। इस तरह जब एक मास और समाप्त हो गया तो मैंने एक दिन बिस्तर बाँधा और स्टेशन की ओर चल पड़ा। पिताजी ने आदेश दिया—"इस बार यदि तू यहाँ आना तो दिमाग को शान्त बनाकर ही आना। गाँव में उपद्रव का सूत्रपात करना उचित नहीं है।"

माँ ने पिताजी को कहा—"तुम इसे क्यों आने से रोक रहे हो? ये गाँववाले खुद ही बहुत पाजी हैं। बच्चा कुछ नहीं करता।"

पिताजी ने कहा—"तुम जिस बात को नहीं जानती, उसमें तुम्हारा हाथ डालना उचित नहीं है।"

माँ बिगड़कर बोली—"मैं तुमसे अधिक इसे पहचानती हूँ। तुमने इसे शहर भेजकर कौड़ी का तीन बना दिया। यह लाट-कलक्टर होकर क्या करेगा? तुमने तो शहर में रहकर लाट-कलक्टर का पद नहीं पाया जो इसे वनवास दे रहे हो।"

पिताजी झल्ला उठे और कहने लगे—"मैं इसका शत्रु हूँ, तो अपने लाड़ले को जाने से रोकती क्यों नहीं? पढ़-लिखकर दो पैसे कमायेगा तो क्या मैं अकेला ही सब चट कर जाऊँगा?"

माँ ने अपने स्वर को जरा ऊँचा चढ़ाकर कहा—"तुम जीवन भर हाय पैसा, हाय पैसा करते रहे। तुम्हें पैसा चाहिये और मुझे

चाहिए अपने कोख का धन। यदि तुम भी माँ होते तो ऐसी अनोनी बात मुँह से नहीं निकालते।

माँ बनने के तर्क ने पिताजी को परास्त कर दिया। वे चुप लगा गये; किन्तु माँ उनके एक-एक प्रश्न के सौ-सौ उत्तर देती रही। अन्त में ऊबकर पिताजी जब बाहर चले गये तो माँ बोली—"उनका दिमाग फिर गया है। तुम उनकी एक बात भी मत सुनना। जीवन भर कमाते और उड़ाते रहे। यदि मैं नहीं होती तो रोटी पर नमक भी नहीं जुटता।"

इस तरह अपनी महिमा की घोषणा करके माँ ने मुझे आशीर्वाद दिया और फिर आँखों में आँसू भरकर मेरा ललाट चूम लिया।

मैं अनुराधा की रट मन-ही-मन लगाता हुआ जा रहा था; किन्तु मुझे दो तरह की जो दुरंगी बिदाइयाँ मिलीं, उनपर भी मेरा ध्यान था। मैं माँ की स्नेहमयी गोद से उतरकर वहाँ जा रहा था, जहाँ एक अभिनव नरक के निर्माण की नींव पड़ चुकी थी। चलते समय अनुराधा ने एक शब्द भी नहीं कहा, दरवाजे लगाकर कमरे में सो रही और मैं उसी बन्द दरवाजे के [illegible] कानों को दो-चार शब्द कहकर चलता बना। किसी ने भी पूछा नहीं कि मैं लौटूँगा या नहीं।

[illegible] कोलाहलपूर्ण स्टेशन पर पहुँचा दिया। मैं न [illegible] अनुराधा के [illegible]

[illegible]

अनुराधा, जो वहाँ पर खड़ी थी, कुछ न बोली और धीरे-धीरे कमरे के बाहर हो गयी।

रात हो चुकी थी। मैं अपने कमरे में लेट गया था। खुली खिड़कियों से हवा के झोंके आ रहे थे, यद्यपि दिन को काफी लू चल चुकी थी। कमरे में प्रकाश न था। मैं लेटा-लेटा अतीत को वर्तमान से तौलने का प्रयत्न कर रहा था। रात देखते-देखते आधी से अधिक बीत गयी थी और दूर-दूर से कुत्तों के भोंकने की आवाज आ रही थी। मैंने एकाएक अनुराधा को अपने कमरे में घुसते देखा। मैं अकचकाकर उठ बैठा। वह धीरे से आकर खाट के छोर पर बैठ गयी और बोली—"क्यों सतीश, तुमको तो मैंने निकाल दिया था, फिर क्यों लौटकर आ गये?"

मैंने सोचा यही तो नारी का दर्प है, जिसका लोहा संसार मानता है। मैं बोला—"मन से यदि मुझे खदेड़ देती तो फिर लौटकर कैसे आता?" "यह तुमने कैसे जाना कि मैंने मन से तुम्हें नहीं खदेड़ा?—अनुराधा ने बहुत ही धीरे से पूछा। उसका स्वर मानसिक उद्वेग से काँप रहा था। मैंने कहा—"यह बात मैंने इसी से जान ली कि जब तक गाँव में रहा, तुम्हारा ध्यान बराबर लगा रहा।"

अनुराधा उठते-उठते बोली—"तो मैं चली, कल बातें होंगी। तुम्हारे भाई साहब को आजकल उनिद्र घेरे हुए है। वे जग रहे होंगे।"

अनुराधा चली गयी तो मुझे ऐसा लगा, मेरी बची-खुची नींद भी आँचल में भरकर चलती बनी। मैं कमरे से बाहर निकला और बरामदे में एक बार इधर-उधर देखकर सीधे ऊपर चला गया। मैंने देखा, अनुराधा अपने कमरे में बैठी कुछ सोच रही है। उसको इस तरह सोचते मैंने कभी नहीं देखा था। अचल मूर्ति की तरह वह

रूपसी बैठी मोम की पुतली-सी जान पड़ती थी। मेरे पैरों की आहट पाकर उसने अपना सिर उठाया और एक हल्की-सी जँभाई लेकर धीरे से उठी। मैं दरवाजे पर सकपकाकर खड़ा रह गया। मेरा हृदय धड़क रहा था और पैर काँप रहे थे। अनुराधा ने निकट आकर कहा—"यह क्या सतीश! तुम ऊपर क्यों आये?......बोलो।" मैं सन्नाटे में आ गया।

उसने फिर कहा—"अन्दर क्यों नहीं आते? बाहर खड़े हो... यह ठीक नहीं है।"

मैं अन्दर चला गया तो अनुराधा ने अपने प्रश्न को फिर दुहराया। मैंने उत्तर दिया—"जी नहीं लगा। तुम्हारे जाने के बाद मन न जाने कैसा तो हो गया।"

अनुराधा ने कहा—"तुम नीचे जाओ और फिर ऐसी गलती न करना।"

मैं अपराधी की तरह उठा और नीचे उतर गया। ज्योंही मैं अपने कमरे के दरवाजे पर पहुँचा, मेरे भाई साहब ने कातर स्वर में हरिस्मरण किया। रात किसी-किसी तरह समाप्त हो गयी। मैंने दो-चार बार बाहर झाँककर देखा, अनुराधा के कमरे में बिजली जल रही है और उसकी चलती-फिरती छाया भी एक-दो बार नजर आयी। इसके मानी यह है कि जो मेरी नींद चुराने आयी थी, उसकी नींद भी कहीं खो गयी। जब रात समाप्त हो गयी तो मैं मन-ही-मन इसलिये घबराने लगा कि सुबह मुझे अनुराधा को अपना मुँह दिखलाना पड़ेगा। यह मेरे लिये बहुत ही कठोर परीक्षा थी।

नित्य की तरह अनुराधा ने मुझे नाश्ता के लिये ऊपर से ही पुकारा। मैं जब ऊपर गया तो वह इस तरह बातें करने लगी, मानो

रात कुछ हुआ ही नहीं। मैं लज्जित होकर उसकी ओर आँखें उठाकर नहीं देखता, वह हँस-हँसकर मुझे नाश्ता कराती जाती जैसा पहले होता था।

एक दिन भाई साहब की तबीयत कुछ अधिक खराब थी। मैं कुछ चिन्ताकुल-सा हो उठा था तो अनुराधा ने मुझे अपने कमरे में बुलाकर कहा—"सतीश, तुमसे एक बात पूछती हूँ।"

मैंने कहा—"पूछो। यदि उत्तर दे सकूँ तो मुझे खुशी ही होगी।"

वह बोली—"क्या आज तुम मुझे बात करने का अवसर दोगे?"

मैं बोला—"क्यों नहीं! मैं तो बैठा ही हूँ!"

वह बोली—"इस समय नहीं, और किसी समय।"

मैं हँसी से बोला—"तथास्तु! किन्तु फिर मेरी नींद चुराने की योजना तो नहीं बनायी गयी है।"

वह उसी तरह मुस्कराती हुई बोली—और तुमने? सारी रात मैं भी तो······!

उफ्! इस तरह रातभर छटपटाना कितना प्रिय होता है, यह सुख जीवन में कभी-कभी ही अनायास प्राप्त होता है। अच्छा, मन को सावधान रखकर उस समय की राह देखो, जब मैं तुमसे बातें करने आऊँगी।"

मैं सारा दिन उद्विग्न-सा रहा। दो-तीन बार डाक्टर के यहाँ गया।

विभाकुमारी

७

किस गधे ने मेरा नाम रक्खा था 'विभा'। छिः! मैं तो मूर्त्तिमान तमिस्रा हूँ, एकदम अमिट कालिमा। क्या मेरी-जैसी अभागी को विभा नाम देना गधापन नहीं है? नाम रखनेवाले को चाहिए कि जब तक बच्चा बढ़कर अपनी करनियों का परिचय न दे तब तक उसका नामकरण न किया जाय। यदि यह नियम होता तो मेरा नाम होता 'अमावस्या'। जरूर मैं इसी नाम की अधिकारिणी हूँ।

जिस स्त्री का पतिकुल और मातृकुल दोनों ही अन्धकार में डूबे हों, उसके भविष्य के विषय में कोई भी चिन्ताशील व्यक्ति ठीक-ठीक नहीं सोच सकता। मेरे भाई तो लम्बी दाढ़ी बढ़ाकर साधना में निमग्न हो गये और उनकी साधना इस वेग से बढ़ी कि एक दिन घर पुलिस के बहादुरों से भर गया। दक्षयज्ञ का दृश्य खानातलाशी के

नाम पर उपस्थित हुआ और उसके बाद उन्हें वे कुत्ते की तरह बाँधकर घसीटते हुए कहाँ ले गये, पता नहीं। बनमाली आया और वेदान्ती की तरह समझाता रहा। कुछ लोगों ने तो यह भी आशंका प्रकट की कि यह सारा अनर्थ इसी बनमाली की दया से सम्पादित हुआ है। मैं इस बात को ठीक-ठीक नहीं समझ सकी। जीवन का प्रत्येक क्षण दुश्चिन्ता और निराशा में कटते रहना, किसी को भी प्रिय नहीं लगता। वृद्धा माँ की दशा और भी दयनीय हो गयी। रोते-रोते उनकी दशा ऐसी हो गयी कि मैं तो यही सोचने लगी कि अब उनका शरीर भी दो घड़ी का मेहमान है। जो हो, किन्तु मानव बहुत ही कठजीव होता है। वह चाहे किसी भी स्थिति में रहे, अपने को सन्तुष्ट कर लेता है और फिर जीवित रहने का सिलसिला कायम कर लेता है। मैं अपनी ही बात कहती हूँ। पतिगृह में जिस अपमान और ताड़ना का जीवन मैंने साल भर व्यतीत किया, वह मृत्यु से भी भयानक था; किन्तु फिर भी शरीर को ढोये चलती हूँ। बीमार पड़ती हूँ तो अच्छी-से-अच्छी चिकित्सा कराती हूँ और भोजन भी पौष्टिक ही खाती हूँ। जरा भी अपनी उपेक्षा नहीं करती। आखिर जीवन के प्रति जो इतना लोभ है, वह किस प्रयोजन से? जीकर मैं करूँगी क्या? किन्तु जीना चाहती हूँ, और सब कुछ गँवाकर भी जीवित रहने का प्रयत्न तो करती ही रहूँगी। यही हाल है। जो जीवित रहने के उचित कारण देते हैं, वे दूसरों को धोखा ही देते हैं। सच्ची बात तो यह है कि मानव अकारण जीवित रहना चाहता है। मरने के हजारों कारणों को टालकर, हम जीवित रहने की कमजोर दलील को ही महत्त्व दिया करते हैं। इसी धोखेबाजी का नाम है 'संसार'।

भैया जिस समय जेल जा रहे थे, माँ मानो मरना ही चाहती थीं;

किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, भैया उसके दिमाग से उसी तरह दूर होते जा रहे हैं जिस तरह घाट से खुल जाने के बाद नाव के आरोहियों के लिये वह घाट दूर होता जाता है, जिस घाट से उन्होंने यात्रा आरंभ की थी। मैं भी एक बार तड़फड़ाकर निश्चिन्त-सी हो गयी और वह दिन आ गया जब मैं घर जाने की व्यवस्था में लगी। वहाँ से मैनेजर बाबू स्वयं आये और उन्होंने कहा—"यदि आप नहीं चलेंगी तो अनर्थ हो जायगा।" अनर्थ लाखों प्रकार का होता है। कौन-सा अनर्थ होनेवाला था, यह पूछना मैंने अपनी मानसिक निर्बलता के कारण उचित नहीं समझा। रोती-बिलखती माँ को उस बड़े मकान में दो-तीन नौकरों की दया पर छोड़कर मैं जब अपने पतिगृह में पहुँची, तो मेरे सामने अनर्थ का रूप स्पष्ट हो गया। अपनी दो-तीन सखियों के साथ 'बिजली' उसी मकान में ठहरी हुई थी, जिसमें मैं थी। मेरे श्वसुर का देहान्त तो बहुत दिन पहले हो चुका था और सास भी नहीं थीं। घर खाली ही पड़ा था और जिस तरह चूहे के बिल में साँप जाकर आराम से अपना शासन आरंभ कर देता है, उसी तरह बिजली ने सारे घर को मुर्गे-मुर्गियों से भरकर अपना शासन आरंभ कर दिया था। मैंने जब एक साल के बाद लौटकर यह तमाशा देखा तो मेरा खून खौल उठा। उसके दो-तीन नाते-रिश्तेदार भी आकर गृह-प्रबन्ध में भाग ले रहे थे तथा मेरे पतिदेव तबला बजाया करते थे और रात-दिन शराब पीकर पड़े रहते थे। मेरे हठात् आने का संवाद जब उन्हें मिला तो उन्होंने मैनेजर बाबू से पूछा—"किसने उसे बुलाया ?"

मैनेजर बाबू ने कहा—"मैं जाकर ले आया। यह अनर्थ मुझसे देखा नहीं गया। आपको कोई अधिकार नहीं है कि आप वंशमर्यादा

को इस तरह खोयें। पैसे लुटाने का आपको अधिकार है, सो अब तो कर्ज से काम चल रहा है जिसकी मुझे चिन्ता नहीं है ; किन्तु ये शहरी शोहदे अब मुहल्लेवालों की भी नाक में दम कर रहे हैं। कोई भी औरत आपकी गली में नहीं आ सकती और न कोई शरीफ आदमी इधर झाँकता ही है। बतलाइये, यह भी कोई भलमनसाहत है! इस पुराने प्रतिष्ठित वंश का इस तरह अन्त हो और मैं देखा करूँ! यह तो मुझसे नहीं होगा।"

पतिदेव ने नाराज होकर कहा—"मैं आपका नौकर नहीं हूँ।"

मैनेजर बाबू ने भी कहा—"मैं भी आपका अब नौकर नहीं रहा। मेरी मालकिन बहूरानी हैं और इस्टेट अब सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत रहेगा, यह आपको मालूम होना चाहिए।"

जब इस अप्रिय विवाद का समाचार मैंने सुना, तो मैनेजर बाबू से कहा—"आपने उन्हें क्यों अपमानित किया? वे मालिक हैं, जो कुछ कर रहे हैं अच्छा ही कर रहे हैं। मैं उनकी एक आश्रिता हूँ न कि इस्टेट की···। मैनेजर बाबू बोले—"मैं कानूनी अधिकार लेकर मैनेजर हुआ हूँ बहूरानी! मैंने दरख्वास्त दे दी है और अब इस्टेट सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत जायगा। आज ही इन गुंडों को इस घर से निकालना होगा।"

उस वृद्ध मैनेजर ने जमींदारी पर से लठैतों को बुलवाकर रख छोड़ा था और देखते-देखते उसने ऐसा उपद्रव खड़ा कर दिया कि मैं तो बिलख उठी ; किन्तु चारा न था। बिजली पहले तो बहुत उछली-कूदी; किन्तु जब लठैतों ने अन्तःपुर में घुसने का प्रयत्न किया तो मेरे स्वामी ने बिजली को हट जाने का आदेश बहुत ही विनय से दिया। परन्तु,वह एकाएक बिजली की तरह तड़प उठी और बोली—"तुम कौन होते हो मेरा अपमान करनेवाले? जिस औरत ने तुम्हें विष देने की व्यवस्था

इस राक्षस मैनेजर से षड्यन्त्र करके की, उसी के चरणों की पूजा करने तुम चले हो।"

मेरे पति डरकर चुप लगा गये ; किन्तु मैंने मैनेजर बाबू से कहा—"आप क्यों इस तरह अनर्थ कर रहे हैं ? मैं यहाँ आराम से हूँ। इस अशान्ति का अन्त शीघ्र होना चाहिए।"

मैनेजर बाबू ने एक क्षण तक कुछ सोचकर कहा—"आप की आज्ञा पालन करता हूँ और इस अशान्ति का अन्त तुरन्त हो जाता है।"

मैंने सोचा कि अब झगड़ा शान्त हो गया ; किन्तु मैनेजर बाबू ने एकदम से अल्टीमेटम दे दिया और स्वयं जाकर मेरे पति से कहा कि मालकिन का हुक्म है कि यह अशान्ति तुरंत मिटनी चाहिए। अतः, इसी घड़ी बिजली को आप घर छोड़ने का हुक्म दें, नहीं तो मुझे इसके लिये प्रयत्न करना होगा। मेरे पति ने डाँटकर मैनेजर से पूछा—"तुम कौन होते हो इस तरह बेअदबी करनेवाले ?"

उस वृद्ध और अनुभवी मैनेजर ने शान्त स्वर में कहा—"मैंने बीस साल तक सेना में अफसरी की है, और जानता हूँ कि अदब किसको कहा जाता है। मैं केवल अपने स्वामी के प्रति वफादार रहना पसन्द करता हूँ, और मेरी मालकिन का हुक्म है कि अशान्ति मिट जानी चाहिए। यह आज्ञा पूरी होकर ही रहेगी, चाहे इसके लिये मुझे गोली चलानी भी पड़े। मैंने आपसे भलमनसाहत के ही खयाल से इतनी बात की है, वर्ना आज्ञा तो आज्ञा है, जिसके पालन में तर्क का स्थान नहीं मिलना चाहिए। मैं एक घंटे का समय अपनी जवाबदेही पर देता हूँ। आप बिजली को हटने का आदेश दीजिए। यदि आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं देंगे, तो सारा दायित्व आप पर रहेगा। मैं पाक हुआ।"

मैनेजर बाबू की बातें सुनकर मैंने सिर पीट लिया ; किन्तु उपाय दूसरा न था। मैनेजर बाबू ने सरकार से लिखा-पढ़ी करके अपने लिये आवश्यक अधिकार की आज्ञा प्राप्त कर ली थी और उनका व्यक्तित्व भी इतना भयानक था कि घर का जर्रा-जर्रा उनके नाममात्र से काँपता था। मुझे तो आश्चर्य था कि ऐसे व्यक्ति के रहते मेरे स्वामी का चरित्र इतना दयनीय कैसे बन गया।

मैंने मैनेजर बाबू को बुलाया ; किन्तु उन्होंने हाथ जोड़कर कहा— "रानीबहू, आपकी शान में आँच नहीं आ सकती। मैं साल भर की छुट्टी लेकर घर गया था। यदि यहाँ होता तो जो कांड आज करने पर मैं उतारू हूँ, वह कभी का हो गया होता। मैं उस शैतान की बच्ची को घोड़े के पिछाड़ से बँधवाकर कोड़े लगवाकर ही अन्न-जल ग्रहण करूँगा। मैंने यहाँ आते ही आपके जाने का जब हाल सुना तो मैं खून करने पर उतारू हो गया। कुशल यह हुई कि मालिक ने बीच में पड़कर मामला शान्त करा दिया। अब मैं एक क्षण भी शान्त नहीं बैठ सकता।"

मेरे स्वामी अजब स्थिति में पड़ गये। दो समान आकर्षणों के बीच में पड़कर जरासंध की तरह बेचारे दो हिस्सों में विभक्त होना चाहते थे।

उन्होंने मुझसे कहा—"तुम मैनेजर को शान्त करो। वह बहुत ही दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति है।"

मैं क्या उत्तर देती! जब मैंने मैनेजर को फिर बुलवाया तो उन्होंने कहला भेजा—"बिजली को बाहर निकालकर मालकिन की सेवा में हाजिर होऊँगा।"

इधर बिजली चंडी की तरह गरज रही थी। उसके भाई-चाचा एक

कोठरी में बैठे थे और दरवाजे पर तनकर बिजली चकाचौंध उत्पन्न कर रही थी। मेरे स्वामी अपनी कोठरी में किवाड़ बन्द करके बैठे थे और चुपचाप बिजली की धारा-प्रवाह गालियाँ अग्लानहृदय से सुन रहे थे।

ठीक घड़ी के समय के हिसाब से पुलिस के अफसरों के साथ मैनेजर बाबू ने अन्त:पुर में प्रवेश किया और बिजली के साथ उसके नातेदारों को पकड़कर बाहर निकाला। इसके बाद गवाहियाँ शुरू हुईं। यह कांड भी एक घंटे तक चलता रहा। अधिकार एक ऐसी चीज है जिसके लिये मानव बड़ा-से-बड़ा त्याग करने को तैयार हो जाता है। मैं जिस विशाल जमींदारी की अधिकारिणी थी, उसपर मेरा अधिकार था और उस अधिकार के लिये मैंने जो कुछ किया, उसका परिणाम यह हुआ कि जमींदारी तो मिली, किन्तु प्राणहीन होकर। मैंने धन पाकर 'धनपति' को गँवा दिया।

बिजली के जाने के दूसरे दिन मेरे पति ने भी अपना बिस्तर समेटा। मैं तो उनके सामने खड़ी होने योग्य भी नहीं थी; क्योंकि मेरे नाम से जो कांड हो चुका था, उससे मैं अपने को अलग नहीं रख सकती थी। यद्यपि मैं बराबर अपने मैनेजर बाबू को रोकती रही; किन्तु मुझे पीछे मालूम हुआ कि बिजली ने उस भद्र मैनेजर का बहुत अपमान किया था। उसने गालियाँ दी थीं और अपने लफंगे भाइयों को हुक्म दिया था कि मैनेजर को जूतों से पीटें। यद्यपि यह कांड तो नहीं हो सका; किन्तु अनुभवी मैनेजर ने मुझे आधार बनाकर अपने अपमान का बदला सूद के साथ वसूल कर लिया और फिर इस्टेट को भी 'कोर्ट्स-आफ-वार्ड्स' के अधीन करके अपनी मैनेजरी को अचल बना डालने का सफल प्रयत्न किया। मेरे पति, जो बिजली के हाथों में बिक गये थे, इन सारी बातों से अलग ही रहे।

जब मेरे पति जाने को उद्यत हुए तो मैंने उनके चरण पकड़कर रोकना चाहा। किन्तु वे बोले—"मैं बिजली के यहाँ नहीं जाता। मैं जिसकी रक्षा नहीं कर सका उसके यहाँ जाकर आश्रय ग्रहण किस मुँह से करूँगा! मेरा विचार है कि मैं तीर्थयात्रा करूँ।"

मैं बोली—"तो मैं भी साथ ही चलूँगी।"

उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"अब क्षमा कर दो।"

इतना बोलकर वे इतना गम्भीर हो गये कि मैं व्यग्र होकर जहाँ पर खड़ी थी, वहीं बैठ गयी। वे शान्त भाव से अपने कमरे में गये और अपने कपड़े वगैरह ठीक करने लगे। हिम्मत नहीं हुई कि एक बार भी मैं उधर झाँकूँ। चलते समय भी मैं उनके सामने न जा सकी। वे स्वयम् मेरे निकट आये और कहने लगे—"मैंने अपने सारे जीवन को नरक में धकेल दिया था। अब चाहता हूँ कि जो कुछ हो चुका है, उसकी ओर शान्त चित्त से विचार करूँ। इस्टेट तो मेरा कभी नहीं था। जब से बालिग हुआ, आवारागर्दी करता रहा। मेरी आवारागर्दी तो छूटेगी नहीं; किन्तु उसका रूप तो अवश्य ही बदल जायगा। तुम दया रक्खो, यही कामना है। मैं अपने साथ कुछ भी ले जाना नहीं चाहता। यदि विश्वास न हो तो मेरे सामानों की जाँच भी कर सकती हो।"

इतना बोलकर वे नीचे उतरे और गाड़ी पर जाकर बैठ गये। नौकर ने सामान उठाकर मेरे आगे रख दिया और कहा—"देख लिया जाय!"

इतना भयंकर प्रहार और मैं एक अबला! किन्तु हाय रे पापी प्राण······सब कुछ सह गयी और आज तक सह रही हूँ।

मैंने नौकर से कहा—"तू इन चीजों को ले जा। क्या मैं

ज़मातलाशी लूँ ! मैं कहती हूँ, तू इन्हें ले जा। यह घर उनका है, मैं कौन होती हूँ जाँच करनेवाली !"

नौकर घबराकर बोला—"सरकार का यही हुक्म है तो मैं क्या करूँ ? उनका हुक्म है कि जब तक सामानों की जाँच न हो जाय, इन्हें मैं यहीं छोड़ दूँ।

मैं पगली-सी होकर खिड़की पर दौड़ी गयी; किन्तु उनकी गाड़ी स्टेशन की ओर चली गयी थी। यदि मैं सामान भेजने में देर करती, तो वे चले जाते और उन्हें कष्ट होता। मैंने मैनेजर बाबू को पुकारकर जब यह हाल कहा तो उस वृद्ध की आँखें भर आयीं और वह खड़ा-खड़ा कभी मेरी ओर कभी नौकर की ओर देखता रह गया। लाचार मैंने नौकर से हाथ जोड़कर कहा—"तू सामान ले जा भैया, और कह देना कि इनकी जाँच हो गयी।"

नौकर ने जमीन पर सिर रखकर प्रणाम किया और सामान उठाकर स्टेशन की राह ली। सामान में चमड़े का एक साधारण-सा बक्स था और एक बिस्तर। बस। मैं रोई और इतना रोई कि आँखों के आँसू की प्रत्येक बूँद खतम हो गयी। हाय ! मैं कहीं की भी न रही। यह लाखों की आय और महल मेरे किस काम के ! क्या परमात्मा ने मुझे अमंगल का ही रूप देकर भेजा है ?

दिन बीतता है और रात आती है। सुखी व्यक्ति के लिये एक रात के दोनों ओर दो प्रकाशमान दिन हैं; किन्तु मुझ-जैसों के लिये एक दिन के दोनों ओर दो तमपूर्ण डरावनी रात। हिसाब बराबर बैठता है; किन्तु इस तरह के जीवन को जीवन नहीं कहा जा सकता। जब तक बिजली रही, मेरा मन दुःख और मलाल से इतना जलता रहा कि उसकी आँच से मैंने अपने पति को भी झुलसते देख लिया;

किन्तु उस वेश्या के जाते ही मेरे मन का धरातल इस तरह बदल गया कि मैं अपने दयनीय पति के लिये रोने लगी और आज भी तो रो ही रही हूँ। हँसना चाहती हूँ तो बाहर स्पष्ट होते-होते हँसी रुलाई बन जाती है।

उनके जाने के बाद मैंने सोचा कि अब इस घर में मैं रहकर क्या करूँगी। माना कि धन-सम्पत्ति काफी है; किन्तु जिस धन का उपयोग मैं कर नहीं सकती, उस धन का पहरेदार बनकर बचाये रखना कितनी बड़ी विडम्बना है, यह बतलाना न होगा।

जब मैं पीहर जाने की सोच रही थी, तो मेरे पतिदेव का एक पत्र आया। उनका लिफाफा सामने रक्खे मैं बहुत देर तक बैठी रही। खोलने का साहस नहीं होता था। न जाने क्या लिखा होगा। जब-जब मैं लिफाफे की ओर हाथ बढ़ाती, हृदय धड़क उठता। मैं पसीने से तर हो गयी और लिफाफे को एक टक देखती हुई न जाने कब तक बैठी रही। हाय रे अपराधी का हृदय! खुली हुई खिड़की से मैंने देखा बाहर जो खुला हुआ छोटा-सा मैदान है, उसमें अन्न से लदी हुई बैल-गाड़ियाँ खड़ी हैं। नौकर-गुमाश्ते शोर मचा रहे हैं। बोरों की जाँच-पड़ताल हो रही है। मैदान के बाद जो सड़क दिखलाई पड़ती है, उसपर आने-जानेवालों का ताँता लगा हुआ है। कुछ गरीब व्यक्ति आह भरी हुई आँखों से अन्न के बोरों को देख रहे हैं और बैलगाड़ी से खुले हुए बैलों में से एक की पीठ पर बैठकर एक कौआ उसके पुट्ठे पर के जख्म को नोचकर मुँह मीठा करने का प्रयत्न कर रहा है। ठंढी हवा के झोंके आ रहे थे और मैं पसीने-पसीने हो रही थी। यह हाल था। आखिर मैंने उस पत्र को खोल डाला। कहाँ से पत्र भेजा गया था, यह उल्लेख नहीं किया गया था। साफ

बात यह थी कि जवाब देने के रास्ते को बन्द कर दिया गया था। वे अपनी बात तो कहना चाहते थे; किन्तु मेरी ओर से कुछ कहा जाय, यह उन्हें स्वीकार न था।

पत्र में लिखा था—"हम सकुशल हैं और आशा है कि जिस चीज की तुम्हें चाह थी, उसकी प्राप्ति हो जाने से तुम भी सुखी होगी।" संक्षेप में इतना ही उस पत्र में लिखा था। मैं कितना विकल हुई, उस पत्र को पढ़कर। क्या मैं जमींदारी या रुपये के लिये आकुल थी? उन्होंने इतना गलत क्यों समझा; किन्तु अब मेरे पास उपाय क्या था। यदि पता होता तो उत्तर देती और उन्हें अपनी बात समझा पाती; किन्तु केवल प्रहार सहना ही हम अभागिनों के भाग्य में लिखा होता है। प्रतीकार करना तो हमारे लिये अपने अपराध की ओर बढ़ना है।

मैंने निश्चय किया कि अब इस घर का परित्याग कर डालना ही उचित होगा; क्योंकि यदि मैं यहाँ बराबर बनी रही तो उन्होंने जो कलंक मेरे सिर पर थोपा है, वह अचल और अटल हो जायगा— भले ही मैं एक छदाम भी स्पर्श न करूँ।

मैंने मैनेजर बाबू को जब अपने निश्चय की सूचना दी, तो पहले तो उन्होंने घबराहट के भाव व्यक्त करके मुझे निश्चय बदलने को कहा; किन्तु मैंने अनुभव किया कि उनका विरोध दिखाऊ है, अतः निर्बल है। मैनेजर के इस व्यवहार का असर मेरे मन पर बहुत ही गहरा और तिक्त पड़ा। पर मैं ऐसी जगह खड़ी थी, जहाँ एक ओर खाई थी और दूसरी ओर था अंध-कूप। लाचार मैं जब मायके पहुँची, तो मैंने वहाँ का हाल भी विचित्र ही देखा। माँ निश्चिन्त भाव से गृहव्यवस्था में लीन थीं। एक सप्ताह तक मैंने उनके मुँह से भैया की कोई चर्चा नहीं सुनी। मानव का हृदय किस धातु का बना होता है, यह शायद उसके

बनानेवाले भी ठीक-ठीक नहीं बतला सकते। एक दिन जब मैंने भैया का जिक्र किया तो माँ बहुत ही व्यग्र होकर कहने लगी—"ठीक ही तो है। वह यहीं है। कल मुलाकात कर सकती हो।"

बस, इतना बोलकर मैंने नौकरानी की ओर मुड़कर कहना आरंभ किया—"तू बड़ी सुस्त है। पूजा के फूल सूख रहे हैं।······हाँ री, जरा पंडितजी से पूछ तो आज एकादशी है या नहीं और पारण का समय भी पूछ लेना।"

माँ को इतना तन्मय होकर गृहव्यवस्था और देवाराधन करते पहले मैंने नहीं देखा था। भैया के जेल जाने के बाद से वे अपने को कभी भी खाली बैठने नहीं देतीं और न भैया की कभी चर्चा ही करती। यह उनकी निष्ठुरता थी या अपने को भुलाये रखने की चाल, यह मैं ठीक-ठीक नहीं भाँप सकी।

भैया से मुलाकात करने मैं जेल के फाटक पर पहुँची और ठीक समय पर वह भयावना फाटक खुला। जेलर के आफिस में भैया लाये गये। मैं पहले तो उन्हें पहचान ही न सकी। लम्बी दाढ़ी और कोटरगत आँखों से उनके मन की विफल झुँझलाहट प्रकट होती थी। वे धारीदार कपड़े की जाँघिया और बाँहकटा बेडौल कुर्ता पहने हुए थे। सिर के बाल भी बेतरह बढ़े हुए थे। उनके साथ एक सन्तरी था, जो देखने में पिशाच की तरह दिखलाई पड़ता था। संतरी ने आदेश दिया कि पाँच मिनट का समय है। बातचीत जल्द खतम हो जाना चाहिए।

मेरा तो कंठ नहीं खुला, किन्तु भैया ने धीरे से कहा—"तू कब आयी विभा?" मैं क्या उत्तर देती; किन्तु अपने मूल्यवान ५ मिनट को चुप रहकर नष्ट कर डालना भी मुझे स्वीकार न था। संक्षेप में जब-

मैंने अपने आने का समाचार सुना दिया तो वे बोले—"जो हो चुका वह उत्तम ही हुआ और जो होनेवाला है वह भी उत्तम ही होगा। नदी के प्रवाह को रोका जा सकता है; किन्तु काल के प्रवाह को कौन रोक सकता है पगली!"

मैं रोना चाहती थी, किन्तु भैया के कठोर चेहरे को इतना तन्मय होकर देखती रह गयी कि रोना भूल बैठी। भैया ने फिर पूछा—"अब तू कब लौटकर अपने घर जायगी?"

मैंने उत्तर दिया—"कह नहीं सकती।"

भैया क्षणमात्र के लिये गम्भीर होकर कहने लगे—"तू ठीक ही कहती है। यह कौन कह सकता है कि क्षण भर में क्या होने जा रहा है।"

उन्होंने खाँसना आरंभ किया और मैंने देखा कि खाँसने से उनके मुँह में खून आ गया, जिसे उन्होंने कोने में थूक दिया।

मैं बोली—"भैया, यह क्या देख रही हूँ?"

उन्होंने कहा—"यह तो साधारण-सी चीज है विभा! इन लोगों ने तो मुझे मार ही डाला था। एक सप्ताह तक लगातार मुझपर अत्याचार हुए हैं। खैर, यह भी उत्तम ही हुआ।"

मैं भय से और दुःख से कातर होकर कुछ बोलना ही चाहती थी कि संतरी ने कहा—"चलो, समय समाप्त हो गया।"

हाथ जोड़कर भैया चलते-चलते बोले—"माँ को मेरा प्रणाम कहना।"

खाँसी ने फिर जोर किया और वे खाँसते-खाँसते दुहरे हो गये और थूक में खून भी आने लगा।

संतरी ने खाँसी से बेजार रहने पर भी भैया का हाथ पकड़कर

झकझोरा और रूक्ष स्वर में कहा—"अन्दर चलो। वहीं आराम से खाँसना।"

इसके बाद उसने बड़बड़ाकर कुछ गालियाँ भी दी थीं, जो ठीक-ठीक मैं समझ न सकी। चिन्ता, दुःख और अपमान से कातर होकर मैंने भैया को देखा, वे एक हाथ से अपनी छाती दबाये और कुछ झुके हुए दूसरे फाटक की खिड़की को पार कर रहे हैं। मैं रोना चाहती थी और रोना उचित था भी; किन्तु मन इतना भाराक्रान्त हो गया था कि रोने का जी नहीं चाहता था। जेल में आँसुओं का क्या मोल होगा, जहाँ का अणु-अणु आँसुओं से भींगा हुआ होता है। जिसकी हवा में उसी तरह की गंध होती है, जिस तरह की बू कसाईखाने के भीतर से आती है और उस बू को बध्यपशु तत्काल पहचान लेते हैं और विकल हो उठते हैं।

भैया के जाते ही मैं भी फाटक के बाहर पहुँचा दी गयी और अपने को मैंने खुले आसमान के नीचे पाया। यों तो हम प्रायः इस नीले आसमान के नीचे रहते ही हैं; किन्तु इस रहने के आनन्द का अनुभव नहीं करते। जब मैं जेल के फाटक के बाहर आयी तो मुझे ऐसा लगा कि जीवन में पहली बार मैं खुले आसमान के नीचे खड़ी हूँ और मुझपर मुक्त प्रकाश की वर्षा भी पहली ही बार हुई है।

घर लौटने के बाद मैं माँ के निकट जाना चाहती थी; किन्तु साहस नहीं होता था कि उनसे भैया का आँखों-देखा हाल कहूँ। रह-रहकर मेरा हृदय उमड़ उठता था और रुलाई का वेग भीतर से उठकर कंठ पर आघात करता था। कष्ट सहते-सहते और रोते-रोते मेरा मन कुछ इस तरह पथरा गया है कि अब रोने का जी नहीं चाहता; किन्तु उस दिन की घटना ऐसी नहीं थी कि उसे बच्चे की लिखी हुई

अर्थहीन पंक्तियों को स्लेट पर से जिस तरह मास्टर पोंछकर मिटा देता है, उसी तरह अपने मन पर से भैया के चित्र को पोंछकर मिटा डालूँ।

माँ ने बहुत ही गम्भीर होकर जब समाचार पूछा तो मैं अपने को रोक न सकी और रुँधी हुई रुलाई फूट पड़ी। माँ ने शान्त स्वर में कहा—"विभा, पत्थर बनो या जहर खाकर मर जाने का साहस करो। यह संसार रोने के लिये नहीं है। आज मैं पति-पुत्रहीना माँ हूँ। एक माँ के लिए इससे बढ़कर अभिशाप और क्या हो सकता है बेटी! सह रही हूँ, सहूँगी और जब तक जीवित रहूँगी सहती ही रहूँगी। ईश्वर बड़ा दयालु है। वह किसी का बुरा नहीं करता।"

मैं क्या उत्तर देती! मैंने माँ को सब हाल कहा तो वह कहने लगी—"इतना तो मैं भी जानती थी। कुछ नयी बात देखने-सुनने में आई हो तो कहो।"

मैं अकचकाकर माँ का मुँह देखने लगी, जो आकाश की तरह शान्त था।

अनुराधा

८

सतीश को उस दिन मैंने दुत्कार दिया !

यों तो वह एक तेजस्वी नवयुवक है, किन्तु मैं जानती हूँ कि इस तरह दुत्कार देने से वह और खिंच जायगा। यही हुआ। वह आया और फिर इस तरह अपने काम में संलग्न हो गया, मानो कुछ हुआ ही नहीं। यह मेरी पहली जीत है। दूसरी जीत शायद बहुत ही भयंकर होगी या विनाशक भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं यह जानना चाहती थी कि उस नवयुवक के हृदय को मैं छू सकी हूँ या नहीं !

कल रात को जब मैं रसोई-घर में अनमनी-सी बैठी थी, सतीश चुपचाप आया और इस तरह खड़ा हो गया, मानो वह चुपके-चुपके मुझे देखते रहना चाहता हो। मैंने भी उसकी ओर देखकर अनदेखी कर दी। वह बहुत देर तक खड़ा रहा और फिर धीरे से

बोला—"भाभी, तुम कितनी भली हो।" मैं बोली—"मैंने तो तुम्हारा कुछ भला किया नहीं, फिर भली कैसे हो गयी? यह तो तुम्हें बतलाना चाहिए!"

वह बोला—"तुम मुझे अकारण ही भली जान पड़ती हो।"

मैंने पूछा—"शरीर से या मन से?"

वह असमंजस में पड़कर बोला—"इस प्रश्न का यदि उत्तर न दूँ तो भाभी!"

मैं बोली—"तो मैं समझूँगी कि तुम झूठ बोल रहे हो। मैं भली नहीं हूँ।"

उसने दीर्घ निःश्वास त्यागकर कहा—"शरीर से········।"

मैं बोली—"और मन से नहीं?"

वह बोला—"तुम्हारा मन इतना गहरा है कि मैं उस तक पहुँचने का साहस नहीं कर सकता। डर भी लगता है कि यदि नमक का पुतला सागर की थाह लेने की हिम्मत करेगा तो उसे अपने अस्तित्व से ही हाथ धोना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"तो तुम मुझसे डरते भी हो बाबू?"

वह कुछ बोलने ही जा रहा था कि नीचे से मेरे चिररुग्ण पति ने मुझे पुकारा। मैं घबराकर रसोई-घर से निकली और सतीश से टकरा गयी। उसने मुझे दोनों हाथों से पकड़कर संभाला। मैंने अनुभव किया कि संभालने के लिये जितने जोर से और जितने क्षण तक पकड़ रखना चाहिए, उससे अधिक जोर से और अधिक क्षण तक उसने मुझे अपने सबल बाहुओं में बाँध-सा रखा, जो मुझे बहुत ही भला जान पड़ा। मैंने धीरे से कहा—"तुम यहीं चुपचाप बैठ रहो। मैं आयी। खबरदार, जो जरा-सा भी बोले या चले-फिरे।" सतीश ने धीरे से मुझे छोड़ दिया

और मैं आँचल संभालती हुई नीचे चली गयी। वहाँ मैंने देखा, सतीश के पिता बैठे हैं। सतीश को ऊपर छिपाकर मैंने जो गलती की थी, उसका अब कोई प्रतिकार न था। मुझसे मेरे पति ने पूछा—"सतीश कहाँ है? चाचाजी घर से आये हैं।"

मैंने घबराकर उत्तर दिया—"मैंने तो उसे संध्या से ही नहीं देखा। वह अपने एक मित्र के यहाँ गया है।"

सतीश के पिता ने स्नेह से पूछा—"बेटी, आज रात को लौटेगा या नहीं?"

मैंने संभलकर उत्तर दिया—"शायद नहीं भी लौटे, क्यों कि मुझे भोजन बनाने से मना कर गया है।"

मेरे पति ने कहा—"अच्छा, तुम जा सकती हो और......।"

मैं 'और' के बाद के शब्द सुनने को रुकी रही तो उन्होंने कहा—"चाचाजी आज यहीं रहेंगे। भोजन का प्रबन्ध हो जाना चाहिए।"

यह तो वज्रपात ही हुआ। रात भर सतीश को अब छिपाकर बिना किसी कारण के मुझे रखना पड़ेगा। जो गलती मुझसे हो गयी, उसका सशोधन भी तो न था। मैं बहुत ही व्यग्र होकर जब ऊपर आयी तो सतीश को रसोई-घर में चूल्हे के पास बैठा पाया। मैं उसके निकट जाकर बैठ गयी और जब सारा हाल सुनाया, तो वह भीत-स्वर में बोला—"तुमने यह क्या किया भाभी? अकारण मुझे चोर बनाकर बैठा दिया। न जाने पिताजी क्यों आये हैं। एक ही सप्ताह पहले तो मैं घर से आया हूँ।"

मैंने कहा—"जो होना था, हो चुका। हमें जो होनेवाला है, उस-पर ध्यान रखना होगा। अब जाकर मेरे कमरे में सो रहो। रोशनी मत जलाना।"

उस नवयुवक ने मुस्कराकर मेरी ओर देखा और कहा—भाभी, जीवन का यह पहला अनुभव कहीं महगा न हो !"

मैं बोली—"देखा जायगा। मैं सब कुछ झेलने के लिये तैयार हूँ। तुम मर्द होकर भयभीत होते हो !"

वह दबे पाँव मेरे कमरे में चला गया। मैंने रसोई बनाकर नीचे जाकर देखा, सतीश के पिता उसके कमरे में जाकर सो गये हैं। रात काफी बीत चुकी थी। १० बजने का समय था। जब मैं अपने पति को साबूदाना और सतीश के पिता को पूरियाँ खिलाकर लौटी तो ऊपर जानेवाली सीढ़ियों के दरवाजे को भीतर से बन्द करती गयी, ताकि दोनों में से कोई ऊपर न आ सके। मेरे मन में जो चोर पैठ गया था, वह साहस पाकर डकैत बनकर तलवार भाँजने लगा। ऊपर आकर मैंने अपने कमरे में प्रवेश किया। मेरा हृदय उछलकर मुँह को आ रहा था और शरीर पसीने-पसीने हो रहा था। कमरा अन्धकारपूर्ण था। मैं टटोलती-टटोलती खाट के निकट गयी तो सतीश से मेरे पैर छू गये। मैंने झुककर टटोला। सतीश नीचे फर्श पर ही सो रहा था। मेरे स्पर्श से जब वह जागा, तो मैं वहीं पर बैठ गयी और धीरे से बोली—"तुम इतने ठंडे फर्श पर क्यों सोये ? खाट पर सोते मन घिनाता था क्या ?" वह बोला—"ऐसी बात न बोलो भाभी··· ऐसी बात मुँह पर भी न लाओ।"

मैंने सतीश का कन्धा पकड़कर कहा—"उठो और चलो भोजन कर लो।"

वह बोला—"पिताजी हैं या चले गये ?"

मैं बोली—"भोजन करके सो गये। डरो मत, उन्हें मैंने विश्वास दिला दिया है। तुम पिछली रात को······"

सतीश अचानक मेरा कन्धा पकड़कर बोला—"मैं मर जाऊँगा भाभी !"

मैंने उसे आश्वासन दिया।

भोजन करते समय वह नीची नजरों से कभी-कभी मुझे देख भर लेता था। मैंने बाहर आकर नीचे की गतिविधि का अन्दाज लगाया। सन्नाटा था और सतीश के पिता की नाक की आवाज आ रही थी। यहाँ तक कि नीचे की घड़ी की टिक-टिक आवाज भी ऊपर साफ सुनाई देती थी। सतीश मेरे कमरे के दरवाजे पर छिपा हुआ खड़ा था।

अपने कमरे में जाकर मैंने उसे अपनी खाट पर सोने का आदेश दिया, जो उसने मान लिया। किन्तु वह फिर उठ बैठा और बोला—"और तुम···?"

मैं बोली—"रसोई-घर में सो रहूँगी।"

सतीश खाट से उछलकर दरवाजा रोककर खड़ा हो गया। मैं बोली—"यह क्या कर रहे हो सतीश? हटो···अभी नीचेवाले जाग रहे हैं। खटका मिलते ही उन्हें सन्देह हो जायगा। फिर हम बिना मौत मारे जायेंगे।"

सतीश बोला"—कुछ परवा नहीं। तुम यहीं सोओ, मैं ही रसोई-घर में जाना पसन्द करता हूँ।"

इतना बोलकर वह जमकर खड़ा हो गया। मैं बहुत ही असमंजस में पड़ी। मैं नाराजी-स्वर में उसके हठ को मिटाने के लिए बोली—"यह पागलपन है! मुझे जाने दो······नहीं तो अनर्थ हो जायगा।"

सतीश ने स्थिर स्वर में उत्तर दिया—"परवा नहीं।"

मैंने चितावनी देते हुए कहा—"होश में आओ। विपत्ति मोल

लेना ठीक नहीं।" वह बहुत ही आत्मतृप्ति के साथ बोला—"परवा नहीं।"

मैं तो हारना ही चाहती थी। हार गयी। सतीश दरवाजे से हट कर खड़ा हो गया और उसके लिये रसोई-घर में बिस्तर लगाने में चली गयी। वह जाकर सो गया। किन्तु मैं अपनी नींद गँवा चुकी थी और साथ ही मानसिक शान्ति भी। खाट पर पड़ी-पड़ी मैं छटपटाती रही, किन्तु रात चट्टान की तरह जम गयी थी। जाड़ा जोरों से पड़ रहा था; किन्तु मेरे दिमाग के भीतर मानो गरम तेल खौल रहा हो। जब घड़ी ने दो बजने की सूचना दी, तो मैं बाहर निकली। छत तो चाँदनी से भरी थी; किन्तु झाँककर देखने से निचला खंड अन्धकारपूर्ण था। मैंने रसोई-घर की ओर जाने का प्रयत्न किया; किन्तु पैर आगे नहीं बढ़ते थे। अपने कमरे में आकर बैठ गयी और सोचने लगी। क्या सोचा, यह याद नहीं है; किन्तु किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से मानो खिंची हुई फिर जाकर रसोई-घर के दरवाजे पर खड़ी हो गयी। सतीश ने तकिये से सिर उठाकर देखा और धीमे स्वर में कहा—"कौन? तुम, भाभी!"

मैं चुपचाप अन्दर चली गयी और सतीश के बिछावन के एक छोर पर हाँफती हुई बैठ गयी। एकाएक सतीश उठा और मेरी बाँह पकड़कर उसने खींच लिया। मैंने अपने को खिंच जाने से रोका; किन्तु मेरा प्रतिरोध इतना निर्बल था कि मैं स्वयं ही लज्जित हो गयी।

सतीश बोला—"ऊपर बैठो। ठंढी जमीन है। बीमार पड़ी तो···!"

मैंने कहा—"मेरे कमरे में चलो सतीश! जब जागकर ही रात समाप्त करने का निश्चय है तो दूर-दूर रहने से लाभ!"

कमरे में आकर मैं तो खाट पर लेट गयी और सतीश बैठ गया।

कमरा बिल्कुल साइबेरिया का मैदान हो रहा था। खुले हुए दरवाजे से बर्फानी हवा के झोंके आ रहे थे। सतीश ने उठकर किवाड़ों को बन्द कर दिया; भीतर से जब उसने कुंडी चढ़ाने का प्रयत्न किया, तो मैं खाट से उछल पड़ी और उसे रोकते हुए कहा—"अरे! ऐसा न करना। बुरा हो जायगा।"

सतीश ने कुंडी चढ़ाते हुए कहा—"तुम्हें धमकाना ही आता है या कुछ अक्ल की बात भी कभी सोचती हो?"

मैंने कहा—"कुंडी क्यों चढ़ा रहे हो?"

सतीश ने कोई उत्तर नहीं दिया। लाचार मैं फिर से आकर खाट पर लेट गयी और सतीश आकर एक किनारे बैठ गया।

कब नींद का झोंका आया और कब मैं सो गयी, मुझे पता न चला। जब मैं सुबह उठी तो देखा सतीश नहीं है और महरी सीढ़ी के दरवाजे को पीट रही है। सूर्योदय का समय हो रहा है। मैं भयाकुल होकर सतीश को देखने रसोई-घर में गयी और फिर इधर-उधर छत पर घूमकर देखने लगी। मैंने सतीश की छाया को भी कहीं नहीं देखा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर भीतर से कुंडी बन्द करके वह नीचे गया तो कैसे! क्या वह सीधे चौक से उतर पड़ा या बाहर गली में कूद पड़ा! छत से गली काफी नीचे थी, याने २० फ़ुट नीचे।

मैंने दरवाजा खोल दिया तो महरी ने कहा—"सतीश बाबू इतना सवेरे कहाँ से आ रहे थे? वे मुझे गली की मोड़ पर मिले।"

मेरे जी में जी आया, वह सकुशल निकल तो भागा! मैंने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि सतीश का स्मरण होते ही लज्जा से मेरी सारी त्वचायें बुरी तरह संकुचित हो जाती थीं। सतीश दिन भर मेरे सामने नहीं आया, और जब संध्या समय आया तो लज्जा से मैंने उसे

अत्यधिक व्यग्र पाया। मैं भी लज्जा से सिहर उठी ; किन्तु झेंप मिटाने के लिये कहने लगी—"तुम भी पक्के चोर हो जी !"

वह बोला—"तुम्हारे चलते जो न बनना पड़े !"

मैं बोली—"मेरे चलते ?"

वह बोला—"हाँ, हाँ, तुम्हारे ही चलते मुझे रात को २० फुट नीचे कूदना पड़ा। अब यदि इस तरह मुझे कैद किया तो तुम्हें लिये-दिये कूद पड़ूँगा। अकेले कूद-फाँद करने में मजा नहीं आता।"

मैंने कहा—"जब मुझे साथ लेकर कूदने की बारी आयेगी तो हम खुले दरवाजे से ही बाहर निकलेंगे।"

मैं आवेग में आकर बोल तो गयी, किन्तु फिर अपनी इस लज्जाहीन और अभद्र मुखरता पर मन-ही-मन लजा भी गयी। हाय री नारी! जो अपने मन की बात भी खुलकर न कह सके। सतीश सुन रहा था और मुस्कराता हुआ मेरी ओर देख भी रहा था।

वह बोला—भाभी, एकाध कमन्द का प्रबन्ध कर लेना अच्छा होगा। मैं समझता हूँ कि शायद मुझे फिर कभी कैद का सुख उठाना पड़ेगा।"

मैंने जवाब दिया—"क्या इस तरह बन्द रहना तुम्हें अच्छा लगता है ?"

वह बोला—"तुम जिस स्थिति में मुझे रक्खो, वही अच्छा लगता है। यह मैंने बहुत बार कहा है कि तुम्हारा बन्दी बनकर जीना ही जीना है।"

मैं क्या उत्तर देती ? एक विवाहिता स्त्री और एक अविवाहित नव-जवान के बीच में इस तरह की बातों का होना गुनाह है; किन्तु गुनाहों के प्रति जिस अभागे का झुकाव हो जाता है, वह कब मानने लगा।

सतीश का लुक-छिपकर मेरे निकट आना तो बहुत दिनों से जारी था, किन्तु छत फाँदने की बारी शायद ही कभी आयी हो।

अपने पिता के चले जाने के बाद सतीश ने कहा—"घटाएँ तो बहुत वेग से उठीं, किन्तु बिना बरसे चली गयीं।"

मैंने जब इस रहस्यवाद का खुलासा जानना चाहा, तो वह बोला—"पिताजी मुझे बुलाने आये थे, किन्तु भाई साहब ने इस विपत्ति से हम दोनों को बचा लिया।"

मेरे मन को बड़ा तोष मिला। मैं मन-ही-मन डर रही थी कि मेरे पति का संदेही मन अवश्य ही संदेह से भरा हुआ है; किन्तु मैं जान गयी कि ऐसी कोई बात नहीं है। सतीश के प्रति मेरे पति के मन में स्नेह था या नहीं, यह तो बतलाना कठिन है; किन्तु बिना पैसे का जो गुलाम उन्हें प्राप्त हुआ था, वे उसका त्याग नहीं कर सकते थे। सतीश भी अक्लान्त भाव से उनकी सेवा किया करता था, और उसी सेवा ने सतीश को मुझसे दूर नहीं होने दिया।

सतीश का आसपास रहना मुझे सुखद जान पड़ता था और मैं झुँझलाया करती थी, जब वह घर से बाहर रहता था। मैं चाहती थी कि वह हर घड़ी मौजूद रहे और कहीं भी न जाय। चाहे वह मेरे निकट न रहे, किन्तु रहे घर में ही। मेरे मन के भाव समझकर सतीश बहुत ही कम बाहर रहता था और अगर लौटने में कभी विलम्ब हो जाता तो मैं डाँटकर उससे जवाब तलब करती। वह डर जाता और अपनी सफाई विनय के साथ दिया करता। अलक्ष्यभाव से सतीश किस तरह मेरे मन में प्रवेश करता जा रहा है, यह तो मैं जानती थी; किन्तु मैं उसके मन को घेर सकी हूँ या नहीं, यह बार-बार जानते रहना मेरे लिये कितना प्रिय है, यह बतलाना कठिन

है। स्त्रियाँ पुरुषों पर जितना अधिकार रखती हैं, उतना ही उनका मन पनपता है; क्योंकि इस तरह उनका आत्मबोध होता है और आत्मबोध होना सुखद है।

पति की बीमारी न घटती है और न बढ़ती है। रक्ताल्पता और पेट की खराबी के साथ लीवर वगैरह के उपद्रव के मारे नाको-दम रहता है। आज उनका पेट चढ़ गया है तो कल बेचैनी है। तीन साल से मैं नर्स की तरह काम कर रही हूँ। सतीश का साथ कुछ महीनों से है और जी चाहता है कि अब सब कुछ छोड़कर उसकी कल्पना में ही दिन व्यतीत करूँ। सोचती तो बहुत कुछ हूँ; किन्तु जो संसार मुझे अपने साँचे में ढाल चुका है, उससे त्राण पाना इस जीवन में सहज तो नहीं है। मुहल्ले की कुछ औरतें आती हैं और वे उपदेश देकर चली जाती हैं। ऐसे उपदेशों से जी जलता तथा मन खिन्नता से भर जाता है। हाँ, जो जवान महरी काम करती है, वह ऐसी बात नहीं बोलती। एक दिन उसने कहा—"कह तो नहीं सकती, किन्तु आपके सतीश बाबू सचमुच ऐसे पुरुष हैं कि कोई भी स्त्री·········।"

मैंने पूछा—"तू क्या बोल रही है! चुप क्यों हो गयी!" उसने भय और लज्जा-मिश्रित स्वर में कहा—"कुछ तो नहीं···यही कि··· मुझसे गलती हो गयी।"

किसी भी युवती के मुँह से सतीश का नाम सुनते ही मेरा जी जल उठता है। सतीश के सम्बन्ध में सोचने का अधिकार इस संसार में किसी भी स्त्री को मेरे अतिरिक्त नहीं है। यदि कोई ऐसा साहस करती है, तो वह मेरा कोपभाजन बनेगी। भले ही सतीश की ओर से मुझे इतना अधिकार नहीं मिला हो; किन्तु अपनी ओर से मैंने

यह मान लिया है कि वह एकमात्र मेरा है और किसी को भी उसके विषय में चर्चा करने का अधिकार नहीं है।

पहले सतीश विभा नाम की किसी बंगाली युवती की चर्चा किया करता था; किन्तु एक दिन जब मैंने विरोध किया तो उसने फिर उसका नाम मेरे सामने नहीं लिया। मैं इस जलन से जलती रहती हूँ कि वह विभा के यहाँ चुपके-चुपके आता-जाता है। यद्यपि यह बात गलत भी हो सकती है; किन्तु यह बात मन में उठते ही मुझे ऐसा लगता है कि किसी ने कसकर एक घूँसा मेरे हृदय पर मारा। अपने इस हल्के स्वभाव को लेकर स्वयम् मैं ही विकल रहती हूँ। आखिर सतीश मेरा कौन है? वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति है; फिर मैं उसे इस तरह घेरे फिरती हूँ, यह ज्यादती नहीं तो और क्या है? इसी ज्यादती को लेकर मैं जी रही हूँ; क्योंकि मन को टिकने का कहीं ठौर तो होना ही चाहिए। रात-दिन साबूदाना, थरमामीटर, लेप और दवा का ही नाम तो जीवन नहीं है। यदि सचमुच इसे ही जीवन कहा जाता है तो मैं बाज आयी ऐसे जीवन से। इस जीवन से मौत को ही मैं खूबसूरत मानूँगी।

उस दिन सतीश ने मुझसे कहा—"जी नहीं लगता।"

उसका ऐसा कहना मुझे अच्छा नहीं लगा। उस स्त्री को धिक्कार है, जिसके निकट पुरुष का जी न लगे या कुछ ही दिनों में वह ऊब उठे। मैंने सतीश से पूछा—"जी न लगने का कारण क्या है?"

वह कहने लगा—"कारण तो मैं नहीं जानता; किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैं चारों ओर से दबता जा रहा हूँ और साँस लेने योग्य भी हवा मेरे इन फेफड़ों को नहीं मिल रही है।"

है। स्त्रियाँ पुरुषों पर जितना अधिकार रखती हैं, उतना ही उनका मन पनपता है; क्योंकि इस तरह उनका आत्मबोध होता है और आत्मबोध होना सुखद है।

पति की बीमारी न घटती है और न बढ़ती है। रक्ताल्पता और पेट की खराबी के साथ लीवर वगैरह के उपद्रव के मारे नाको-दम रहता है। आज उनका पेट चढ़ गया है तो कल बेचैनी है। तीन साल से मैं नर्स की तरह काम कर रही हूँ। सतीश का साथ कुछ महीनों से है और जी चाहता है कि अब सब कुछ छोड़कर उसकी कल्पना में ही दिन व्यतीत करूँ। सोचती तो बहुत कुछ हूँ; किन्तु जो संसार मुझे अपने साँचे में ढाल चुका है, उससे त्राण पाना इस जीवन में सहज तो नहीं है। मुहल्ले की कुछ औरतें आती हैं और वे उपदेश देकर चली जाती हैं। ऐसे उपदेशों से जी जलता तथा मन खिन्नता से भर जाता है। हाँ, जो जवान महरी काम करती है, वह ऐसी बात नहीं बोलती। एक दिन उसने कहा—"कह तो नहीं सकती, किन्तु आपके सतीश बाबू सचमुच ऐसे पुरुष हैं कि कोई भी स्त्री·········।"

मैंने पूछा—"तू क्या बोल रही है? चुप क्यों हो गयी?" उसने भय और लज्जा-मिश्रित स्वर में कहा—"कुछ तो नहीं···यही कि··· मुझसे गलती हो गयी।"

किसी भी युवती के मुँह से सतीश का नाम सुनते ही मेरा जी जल उठता है। सतीश के सम्बन्ध में सोचने का अधिकार इस संसार में किसी भी स्त्री को मेरे अतिरिक्त नहीं है। यदि कोई ऐसा साहस करती है, तो वह मेरा कोपभाजन बनेगी। भले ही सतीश की ओर से मुझे इतना अधिकार नहीं मिला हो; किन्तु अपनी ओर से मैंने

यह मान लिया है कि वह एकमात्र मेरा है और किसी को भी उसके विषय में चर्चा करने का अधिकार नहीं है।

पहले सतीश विभा नाम की किसी बंगाली युवती की चर्चा किया करता था; किन्तु एक दिन जब मैंने विरोध किया तो उसने फिर उसका नाम मेरे सामने नहीं लिया। मैं इस जलन से जलती रहती हूँ कि वह विभा के यहाँ चुपके-चुपके आता-जाता है। यद्यपि यह बात गलत भी हो सकती है; किन्तु यह बात मन में उठते ही मुझे ऐसा लगता है कि किसी ने कसकर एक घूँसा मेरे हृदय पर मारा। अपने इस हल्के स्वभाव को लेकर स्वयम् मैं ही विकल रहती हूँ। आखिर सतीश मेरा कौन है? वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति है; फिर मैं उसे इस तरह घेरे फिरती हूँ, यह ज्यादती नहीं तो और क्या है? इसी ज्यादती को लेकर मैं जी रही हूँ; क्योंकि मन को टिकने का कहीं ठौर तो होना ही चाहिए। रात-दिन साबूदाना, थरमामीटर, लेप और दवा का ही नाम तो जीवन नहीं है। यदि सचमुच इसे ही जीवन कहा जाता है तो मैं बाज आयी ऐसे जीवन से। इस जीवन से मौत को ही मैं खूबसूरत मानूँगी।

उस दिन सतीश ने मुझसे कहा—"जी नहीं लगता।"

उसका ऐसा कहना मुझे अच्छा नहीं लगा। उस स्त्री को धिक्कार है, जिसके निकट पुरुष का जी न लगे या कुछ ही दिनों में वह ऊब उठे। मैंने सतीश से पूछा—"जी न लगने का कारण क्या है?"

वह कहने लगा—"कारण तो मैं नहीं जानता; किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैं चारों ओर से दबता जा रहा हूँ और साँस लेने योग्य भी हवा मेरे इन फेफड़ों को नहीं मिल रही है।"

मैंने कहा—"तो तुम घर चले जाओ और जी बहलाने का साधन ढूँढ़ो।"

सतीश ने कोई उत्तर नहीं दिया और मैं मन-ही-मन बेतरह खिन्न होकर अपने पतिदेव के कमरे में थरमामीटर लगाने चली गयी। उस दिन मैं विशेष उत्साह से पति-सेवा में लग गयी। मैंने सोचा कि सीता और देवी उमा के आदर्श को सामने रखकर ही नारी को जीवन व्यतीत करना चाहिए। सतीश मेरा कौन है? वह नरक का अग्रदूत है, मुझे अलक्ष्यभाव से महानाश की ओर घसीटे लिये जा रहा है। अच्छा हुआ जो मैं गिरते-गिरते संभली। मैं बार-बार पति के कमरे में जाती और उनकी प्रत्येक सेवा उमड़ते हुए हृदय से करती। सतीश भी कुछ-कुछ लापरवाह-सा इधर-उधर घूमता और रात अधिक बीतने पर ही घर आता। किसी दिन भोजन करता तो किसी दिन चुपचाप आकर सो जाता। मैं उसे देखकर भी नहीं देखती और इस कोशिश में रहती कि उसे आँखें भरकर नहीं देखूँ। जो हो, किन्तु मेरा मन रह-रहकर सतीश की खोज करता और वह जब बाहर रहता तो मैं बार-बार दरवाजे की ओर ताका करती। उसके आते ही मन के कोने-कोने में एक अव्यक्त आनन्द की लहर-सी दौड़कर मेरे सारे अन्तःकरण में व्याप जाती।

यह अवस्था एकाध सप्ताह से अधिक नहीं रही। एक दिन सतीश रात अधिक बीतने पर जब घर लौटा तो मैं बहुत ही झुँझला उठी; किन्तु उस झुँझलाहट के भीतर कितना अपनापन था, यह मैं ही अनुभव कर सकी। सतीश उसे भाँप न सका। मैंने उससे पूछा—"इतनी रात को........।" वह अपराधी की तरह अपने

कमरे में घुस गया। मैं पीछे-पीछे दरवाजे तक जाकर रुक गयी। मैंने देखा, वह अपने लम्बे कोट की जेब से एक बोतल निकालकर बिछावन के नीचे छिपा रहा है। अब मैं अपने को रोक न सकी। एकदम कमरे के अन्दर घुसकर मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। वह भी नशे में चूर था। मैं पीछे हटी और घबराकर खाट पर बैठ गयी। मैंने लौटकर देखा, मेरे बीमार पति खड़े-खड़े हाँफ रहे हैं।

बनमाली

६

राम राम ! यह कैसा उपद्रव है !

जीवन को इस तरह असंभव और असंगत बना डालना भी कोई समझदारी है ? किन्तु, समझदारी की दुहाई देना कितनी बड़ी मूर्खता है, यह मैंने तब समझा जब थाने में बन्द करके मरातब अली दारोगा ने मुझे पीटना आरंभ किया। आखिर, मैंने तो कुछ किया नहीं था। कालेज में पढ़ता था और जरा इधर-उधर घूमता था। हाँ, जतीन और वह काला-सा छोकरा....अरे ! वही जिसने डकैतियों का प्लान बनाया था, मेरे साथी थे। मैंने तो कुछ किया नहीं और वह कसाई दारोगा एक दिन मेरे सिर पर घहरा पड़ा। थाने की पिटाई और जेल की पिटाई में जो मौलिक प्रभेद है, उसका पहले अनुभव न था और जब अनुभव हुआ तो किसी के सामने कुछ कहने का मुँह नहीं रह गया। थाने और जेल के अत्याचार ने मुझे मुखबिर बनाकर

छोड़ा और मैंने पुलिस के बतलाये हुए बयान को दुहराकर अपना पिंड छुड़ाया। यह पिंड छुड़ाना तो जेल में घुल-घुलकर मर जाने से भी महगा पड़ा। जब मैं जेल के बाहर निकला, मुझे फिर पकड़कर थाने की हवालात में बन्द किया गया और कहा गया कि मैं सीधे अपने घर चला जाऊँ। घर जाने के लिये तो मैं भी विकल था; किन्तु इस तरह खदेड़ा जाकर घर की ओर भागना बहुत ही बुरा जान पड़ता था। मेरे मित्र मुझसे घिनाने लगे। वे घिनाते हों या स्नेहभाव रखते हों, किन्तु मुझे तो ऐसा ही लगता था कि वे घिना रहे हैं। मेरी आत्मा चीख-चीखकर कह रही थी कि मैंने घृणित काम किया है और दुनिया मुझसे दूर ही रहना चाहती है। मेरे ही भाव दूसरों के चेहरे पर प्रतिबिम्बित होते हुए मुझे नजर आते थे।

यद्यपि मेरे पिताजी मुझे समझाया करते थे, किन्तु उनका समझाना मुझे बाण की तरह लगता था। मैं जानता हूँ कि विशुद्ध पितृस्नेह के चलते वे बड़ा-से-बड़ा मूल्य चुकाकर भी मुझ-जैसे पतित पुत्र को अपने निकट देखना चाहते थे; किन्तु उनका स्नेह सीमा पार करके अग्राह्य हो चुका था।

लाचार मैं घर पहुँचा और चोर की तरह घर में घुसा रहता था। मुझे बहुत ही दुःख होता था जब कोई आकर मेरे छूट जाने की कहानी पूछता। मैं झुँझला उठता था, किन्तु पिताजी बहुत गौरव से कहा करते थे—"मैंने सरकार की सेवाएँ की हैं और मेरे शरीर में सरकार का नमक घर कर चुका है। यह अभागा कुसंग में पड़कर बहक चुका था; किन्तु ठीक समय पर सद्बुद्धि ने साथ दिया और इसने········।"

मैं मन-ही-मन रो उठता और उठकर दूसरी ओर चला जाता।

गाँव के मेरे पुराने नवयुवक साथी मेरे सामने से छाती फुलाये चले जाते और मैं सिर झुकाये अपने बरामदे में बैठा रहता। गर्व करने लायक मेरे जीवन में एक भी ऐसी चीज नहीं थी जिसको लेकर मैं जीवन को प्यार करने का साहस करता। यह भी कोई जीवन है? यही तो मैं आपसे पूछता हूँ, अपने और पराये से पूछता हूँ, मित्र और शत्रु से पूछता हूँ और पूछता हूँ अपने आप से। किन्तु चारों ओर से छिः-छिः, थुः-थुः का जो तूफान उठ रहा है, उसके हाहाकार में मेरी कातर पुकार कंठ के भीतर ही रह जाती है। हाय! मैं जी खोलकर रोने का अपना नैसर्गिक अधिकार गँवा बैठा। जी रहा हूँ और इसीलिये जी रहा हूँ कि मौत नहीं आती···। मौत की राह देखता हुआ जीना कितना दुखदायी होता है, यह मैं कैसे बतलाऊँ!

माँ और बहन भी जब मेरी ओर देखतीं तो मेरा मन लज्जा से विकल हो उठता। एक दिन माँ ने कहा—"क्यों रे! तू इतना खिन्न क्यों रहता है? जब से आया है, घर के बाहर झाँकता भी नहीं।"

मैं रो उठा तो माँ बोली—"साहस रक्खो। जो होना था हो चुका।" मैं अपने मन के हाहाकार को क्या कहकर व्यक्त करता। यदि कुछ कहने की चेष्टा भी करता तो मुझे ऐसा जान पड़ता कि बात कुछ इतनी बड़ी है कि वह गले में आकर किसी बहुत बड़े गोले की तरह अटक जाती है, बाहर निकलती ही नहीं। माँ का आश्वासन उस समय मुझे भगवान के आश्वासन से भी अधिक सुखदायक जान पड़ा। माँ के हृदय की विशालता की तुलना में आकाश की महानता संकुचित जान पड़ती है। माँ की महिमा तो मेरे सामने प्रकट हुई, किन्तु मेरी जो महिमा पुलिस के भारी-भारी जूतों से रौंदी जा चुकी थी, उसका कोई भी प्रतिकार मेरे सामने नहीं था। गाँव में निकलता भी,

तो मेरी दशा उस चोर की-सी थी जो स्वयं उच्च कुल-संभूत होता हुआ भी, किसी के जूते चुराता हुआ रंगे हाथों पकड़ा जाय और फिर क्षमा कर दिया जाय। वह दयादान उसके हृदय में तप्त शलाका की तरह जीवन भर पीड़ा पहुँचाता रहेगा और उसके जीवन के सारे आनन्द आत्माभिमान और अपनापन को स्वाहा करता रहेगा।

घर पर कैद रहता हुआ जब मैं पुस्तकों की ओर मन लगाता तो मुझे प्रत्येक पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति धिक्कारती हुई नजर आती। मेरे सोचने का धरातल ही बदल गया और अपने भविष्य को मैंने पंगु रूप में देखा, जो लोथ की तरह एक ही जगह पर पड़ा-पड़ा सिसकियाँ भर रहा था।

पिताजी ने एक दिन कहा—"आज थाने पर चलना। दारोगाजी ने तुम्हें बुलाया है।"

हाय! फिर दारोगाजी और फिर थाना! मैंने सोचा, यदि किसी तरह दारोगा मुझे फिर पकड़कर जेल भेजवा दे तो कलंक की कालिमा कुछ हल्की पड़े और जीने का एक बहाना भी निकल जाय। मैं मनः-ही-मन खिन्न हुआ और प्रसन्न भी। जब मैं पिताजी के साथ दारोगाजी की सेवा में हाजिर हुआ, तो वह आराम से अपनी दोनों टाँगें मेज पर रक्खे सिगरेट पी रहा था। सलाम करके मेरे वृद्ध पिताजी ने मेरा परिचय दिया तो वह दारोगा अपनी साँप-जैसी घिनौनी आँखों से मुझे घूरता हुआ बोला—"यह वही छोकरा है जो मुखबिर बनकर छूटा है? इसकी शकल ही चोर की तरह लगती है। क्रान्तिकारी ऐसे नहीं होते।"

मैं कितना मर्माहत हुआ, यह कहते नहीं बनता। मैं क्या जवाब

देता ! पिताजी फिर खीस काढ़कर कहने लगे—"जी, लड़का कुसंग में पड़कर ऐसा हो गया। यह बहुत ही सीधा और भला है।"

दारोगा अचानक संभलकर बैठ गया और घृणापूर्ण स्वर में बोला—"कुसंग में पड़कर ! यह छँटा हुआ चोर है। मैं ऐसों को खूब पहचानता हूँ। बीस साल से दारोगा की वर्दी पहन रहा हूँ। खैर, अब इसे रोज थाने पर आकर हाजिरी देनी पड़ेगी। अगर एक दिन भी गैरहाजिर हुआ तो जूतों से मारकर खाल उतार लूँगा साले की।"

यह हुई हमारी अभ्यर्थना। पिताजी के काटो तो खून नहीं। वे बोले—"हुजूर········।"

दारोगा गरजा—"हुजूर के बच्चे ! मुँह काला करो यहाँ से और अपने इस लाड़ले को ठीक दस बजे दिन को रोज भेज दिया करना।"

पिताजी गाली सुनकर रुँआसे-से हो गये और मैं तिलमिला उठा। पर, उसी दिन मैंने यह अनुभव किया कि जिसका सांस्कृतिक पतन हो जाता है, वह अपमान या अन्याय का सक्रिय विरोध नहीं कर सकता। मैं कभी दारोगा का डरावना मुँह देखता तो कभी पिताजी का उतरा हुआ चेहरा। उनकी आँखों के आँसू भी मुझे विकल कर रहे थे; किन्तु उपाय क्या था। अन्त में फिर दारोगा बोला—"अब मुँह क्या देख रहे हो !·····जाओ।" उसने आओ शब्द का इतना जोर से उच्चारण किया कि सारा कमरा गूँज उठा। उस जाओ शब्द ने मानो धक्के मारकर हमें घर के बाहर निकाल दिया। सड़क पर आकर पिताजी ने कहा—"साला जीवित पिशाच है। सीधे मुँह बात भी नहीं करता। जी चाहता है कि दो जूते···।"

मैं क्या उत्तर देता ! अपमान, पश्चात्ताप और क्रोध से मेरा

बुरा हाल था और यह सोच-सोचकर मैं और भी अधमरा होता जा रहा था कि चार मील चलकर रोज उस पाजी दारोगा की गालियाँ खाने यहाँ तक आना पड़ेगा । यह थाने पर की हाजिरी तो जले पर नमक रगड़ना था । कभी जी में आता कि हाजिरी देने न जाऊँ और जेल चला जाऊँ; किन्तु अब जेल जाना तो बिना पानी के मोजे उतारना है । इस तरह जेल जाकर मैं अपने नष्ट गौरव को कैसे प्राप्त कर सकता था !"

घर पहुँचने पर मुझे विभाकुमारी का एक पत्र मिला । उसने पिछली तमाम बातों को भूल जाने का प्रस्ताव किया था और लिखा था कि मैं पत्र पाते ही चल पड़ूँ । मैं तत्काल यह निश्चय नहीं कर सका कि उसे क्या उत्तर दूँ; किन्तु कुछ तो लिखना ही चाहिए । झूठ लिखना आसान है, किन्तु सत्य की तरह असर पैदा करनेवाली झूठ लिखना साधारण कला नहीं है । मैंने रात में बैठकर तीन-चार पत्र लिखे और उन्हें फाड़ डाला । एक भी मन के लायक नहीं उतरा, मानो मैं लिखना ही भूल गया होऊँ । एक पत्र अन्त में कुछ सही उतरा । मैंने लिखा—"पिताजी बीमार हैं और माताजी की यह इच्छा है कि अब मैं घर पर ही बना रहूँ··· !"

पत्र लिखकर लिफाफे में बन्द किया और जेब में रखकर जब भोजन करने गया तो माँ ने पूछा—"आज दारोगा ने तुम्हें क्यों बुलाया ?"

मैं क्या उत्तर देता ? कहने लगा—"थाने पर नित्य हाजिरी देने का हुक्म है । किसी भी तरह मुझे चैन नहीं मिलता माँ ! मुखबिर बनकर जेल से छुटकारा पाया; किन्तु यह एक पंख लगी ही रह गयी ।"

माँ ने दुःख भरे स्वर में कहा—"चार साल पर छूटकर घन्नू का लड़का आया है। सारा गाँव उसे सिर पर लादे फिरता है। एक तुम हो जो कोई सीधे मुँह से बात भी नहीं करता। घन्नू का वह छोकरा तुम से मिलने आया या नहीं ?"

मैं लज्जा से व्यग्र होकर बोला—"माँ, मैं तो अछूत-सा हूँ, मेरी छाया से भी सभी घिनाते हैं। यदि मैं जेल में ही घुल-घुलकर मर जाता तो यह दिन तो देखना न पड़ता। ऐसे जीवन से मौत को ही श्रेयष्कर समझना चाहिए।

माँ ने गम्भीर मुख-मुद्रा बनाकर कहा—"अब मैं भी ऐसा समझने लगी हूँ। उस छोकरे की माँ आज गाँव भर की आदरणीया देवी है और एक मैं हूँ जो किसी के सामने जाते न जाने क्यों झिझक मालूम पड़ती है। आखिर तूने इतना नीच कर्म क्यों किया ? मैं तो इन बातों को समझती ही नहीं।

आखिर मैंने सारी कहानी सुनाकर माँ की सम्मति चाही तो वह बहुत शान्त स्वर में बोली—"यह तो मेरी कोख का कलंक है बेटा, जो मेरा पुत्र इस तरह मुखबिर बनकर अपना काला मुँह लिये एक कोने में छिपा रहे ! मैं बिना पुत्र के रहना पसन्द करूँगी, किन्तु एक कलंकित पुत्र की माँ बनना मुझे स्वीकार नहीं। अब यदि कुछ उपाय शेष बचा हो तो तू उसे कर, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

एक बार मेरे शरीर में बिजली-सी कौंध उठी। आह ! यदि माँ की इस सम्मति का पता मुझे पहले होता तो मेरे जीवन का नक्शा ही दूसरा होता ! सतीश ने मुझे बार-बार समझाया था कि मैं अपनी गन्दी हरकतों से बाज आऊँ; किन्तु पिताजी ने मेरे दिमाग

को इस तरह रौंद दिया था कि मैं मुखबिर बनकर जेल के बाहर निकला। अपना विश्वास गँवाकर मैं किसी योग्य नहीं रह गया था। अपने-पराये सभी मेरी सूरत देखते ही घिना उठते थे। यहाँ तक की गाँव की वह छोकरी पन्ना जो मेरे लिये आँखें बिछाये रहती थी, जब मुझे देखती तो आँखें नीची करके एक ओर चली जाती। मुझे तो ऐसा विश्वास हो गया था कि संसार में एक भी ऐसा पतित मनुष्य दिन को चिराग लेकर खोजने पर भी मुझे शायद ही मिलता जो मेरे कर्मों का समर्थन हृदय से करता। यहाँ तक कि उस सरकारी दारोगा ने भी मुझे हेय ही समझा। कम-से-कम सरकारी आदमियों को तो मुझे भला समझना चाहिए था; क्योंकि मुखबिरी करके मैंने सरकार का ही हित किया। जिसके चलते मैं हीन हुआ उसने भी मुझे हीन ही समझा। हाय री विधिलिपि !

मैं माँ को क्या कहता ? दीर्घनिश्वास त्याग करके मैंने थाली को नमस्कार किया। माँ ने चलते-चलते कहा—"देख रे वनमाली, इस पाप का प्रायश्चित्त तू मेरे जीते-जी करता कि तुझे निष्कलंक चाँद की तरह देखकर मैं मरूँ।"

मैं हाथ जोड़कर बोला—"माँ ! भगवान की जैसी इच्छा होगी वही होगा।"

भगवान के नाम की ओट में मेरा हृदय जिस तरह बिलख-बिलखकर रो रहा था, उसका वर्णन करना व्यर्थ है। मैं जानता हूँ कि भगवान कभी भी मुझ-जैसे नालायकों का साथ नहीं देते।

नित्य दारोगाजी की सेवा में हाजिर होता और दो-चार गालियाँ सुनकर अपनी साइकिल घसीटता हुआ थाने के हाते के बाहर हो जाता। किसी दिन दारोगाजी के हुक्म से दही ले जाता तो किसी दिन मुर्गी;

किन्तु मैं उनकी दया के दरवाजे को ठेल-धकेलकर जरा-सा भी खोल न सका। इस तरह दही-मुर्गी ढोता-ढोता मैं विकल हो उठा; किन्तु दारोगाजी गालियाँ बकते-बकते कभी भी नहीं ऊबे। एक दिन उन्होंने दही खट्टा कहकर फेंक भी दिया और दो-चार तमाचे इस तरह मेरे गाल पर मारे कि सिर चकरा गया। जब मैंने उन्हें ऐसा करने से रोका तो एक सिपाही को बुलवाकर हुक्म दिया कि बन्द कर दो साले को।

मैं दिन भर बन्द रहा और संध्या समय दो-चार तमाचे और खा लेने के बाद छुटकारा मिला। जी में तो आया कि बगल ही में जो रेल की लाइन गयी है, उसी पर सिर रखकर सो जाऊँ और इस तरह रोज-रोज के अपमान का अंत कर दूँ; किन्तु यदि यही साहस मुझमें होता तो जेल से खीस काढ़कर क्यों बाहर निकलता। दूसरे दिन जब फिर दारोगाजी की सेवा में हाजिर हुआ तो मैंने बहुत ही अदब से पूछा—"हुजूर, धन्नू का छोकरा भी तो जेल से आया है; उसकी हाजिरी क्यों नहीं ली जाती?"

दारोगा उछलकर खड़ा हो गया और चिल्लाकर बोला—"यहाँ आया है मुखबिरी करने। यह थाना है बेटा याद रखना!"

मैं बहुत ही लज्जित हुआ और बोला—"जी·····मैं कुछ दूसरी ही बात कहना चाहता था......।"

दारोगा फिर गुर्राकर बोला—" वह तेरी तरह चोर है जो उसकी यहाँ हाजिरी होगी? वह सिपाही है। शान से जेल गया और शान से ही बाहर आया और तू है साला पाकेटमार·····पाकेटमारों की हाजिरी होती है।" मैं झल्ला उठा और बोला—"जी नहीं, मैंने चोरी नहीं की है।"

दारोगा गालियाँ बकता हुआ बोला—"जाता है या लगाऊँ दो जूते ।"

मैं मन-ही-मन पछताता हुआ लौटा । घन्नू के लड़के के सम्बन्ध में जो मन्तव्य मैंने प्रकट किया था, वह भी एक प्रकार की गद्दारी ही था । मैं अपने ऊपर इसलिये झल्लाया की कमीनापन की आदत अब तक नहीं छूटी और मैं एक बार फिर नीचता करने पर उतारू हो गया । सच्ची बात तो यह है कि उस छोकरे से मैं मन-ही-मन जलने लगा था, जो सारे गाँव का नेता बना बैठा था । यह जलने का स्वभाव तो पहले भी मेरे भीतर था ; किन्तु इस तरह मन की जलन को सार्थक करने का प्रयत्न करना कितनी बड़ी नीचता है, यह तब मैंने समझा जब माँ ने मुझसे कहा कि जिस वक्त मैं थाने पर गया था वह छोकरा यहाँ आया था । माँ ने यह भी कहा कि उस छोकरे को देखकर उनकी आँखें तृप्त हो गयीं । अन्त में उन्होंने कहा कि उसकी माँ की कोख स्वर्ग से भी अधिक पवित्र और श्लाघ्य है जिसने ऐसे लाल को नौ मास तक धारण करने का गौरव पाया है । माँ के इस मन्तव्य से मेरा हृदय टूक-टूक हो गया और मैं मर्माहत-सा होकर चुप लगा गया । मेरे मन में उस छोकरे के प्रति हिंसा के जो भाव पैदा हुए थे, वे चिता की तरह धू-धूकर जलने लगे और उसकी ज्वाला में मैंने अपने आप को झुलसते हुए देखा । उस छोकरे का नाम था आनन्दकृष्ण ।

आनन्दकृष्ण गाँव का ही छोकरा था और बी० ए० पास उसने जेल के भीतर रहते हुए किया था । सरकार की ओर से उसकी पढ़ाई की सभी अनुकूल व्यवस्था थी । वह सुन्दर, शान्त और लोहे की तरह दृढ़ था । उसका प्रत्येक गुण मुझे विष की तरह जान पड़ने लगा । जिसे मैं सद्गुणों से जीत नहीं सकता था, उसे प्रतिहिंसा की आग से जलाने

की कल्पना करता हुआ मैं दिन व्यतीत करने लगा। एक दिन जब मैं थाने से लौट रहा था, आनन्द रास्ते में मिला। वह अपनी साइकिल से उतरकर हाथ जोड़ता हुआ बोला—"भैया! तुम कहाँ रहते हो, पता नहीं चलता। मैं दो-तीन बार गया तुम्हारे घर पर, किन्तु चाचीजी के चरण छूकर मुझे लौट आना पड़ा।"

मैं क्या उत्तर देता, किन्तु कुछ तो कहना पड़ा। बोला—"मैं तो दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ चुका हूँ...!"

आनन्दकृष्ण बोला—"आप यह क्या बोल रहे हैं! यह सब तो होता ही रहता है। मुझे भी कुछ कम सताया नहीं गया; किन्तु भाई इस पथ पर तो वही चल सकता है जो अपने को होम कर डाले। खैर, कभी दर्शन तो दीजिये। मैं आप से मिलकर कुछ बातें करना चाहता हूँ। इन देहातियों में अशिक्षा का जो रोग लग गया है, उसे तो दूर करना ही होगा। हमने इसी गाँव की गलियों में खेलकर अपना मान-यश पाया है। अतः हमारा दायित्व बढ़ गया है।"

मैं देखता था कि उसके चेहरे पर उस तरह की घृणा की झलक आती है या नहीं, जैसी झलक मैं उन व्यक्तियों के चेहरे पर पाता हूँ जो मुझसे मिलते हैं; किन्तु मुझे विफल होना पड़ा। सचमुच आनन्द विचित्र व्यक्ति है।

आनन्द मुस्कराता हुआ फिर कहने लगा—"भैया, तुम बहुत ही कोमल हृदय के हो। अतीत को लेकर इस तरह झख मारना उचित नहीं। जो होना था, हो चुका। अतीत को हम गँवा चुके और भविष्य पर के अधीन है। यह जो वर्तमान हमारे सामने है, उसे हम सुनहला बना सकते हैं। पराजय की भावना को यदि हम पालते-पोसते रहेंगे तो फिर जीवन नाम की कोई चीज शेष नहीं बचेगी और यदि कुछ बच

भी जायगी तो उसे वमन किया हुआ अन्न समझो जिसे कुत्ते ही स्वाद से खा सकते हैं !"

इतना बोलकर वह चलता बना और मैं खड़ा-खड़ा उसकी ओर ताकता रह गया। उसकी प्रत्येक बात हथौड़े की तरह मेरे हृदय पर प्रहार कर रही थी ; किन्तु मैं हारा हुआ जुआरी था और उसकी सभी गोटें लाल थीं। फिर वह बड़े-बड़े सिद्धान्तों का प्रतिपादन क्यों नहीं करता !

घर लौटकर मैं हारा-थका-सा जब अपनी कोठरी में लेट गया तो पन्ना आकर दरवाजे पर खड़ी हो गयी। वह धीरे से बोली—"मौसी भोजन करने के लिये बुला रही है।"

इतना बोलकर वह उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना चली गयी, मानो उसने अपने सिर पर का एक दुर्वह दायित्व उतारकर त्राण पाया। मैंने पुकारा, तो एक बार ठिठककर खड़ी हो गयी, किन्तु फिर धीर-गम्भीर गति से सामने की गली की मोड़ से मुड़ गयी। दूसरे दिन जब मैं खेतों के उस पार नदी तट पर संध्या समय टहलता हुआ गया तो वहाँ मुझे पन्ना मिली। मैं बोला—"क्यों पन्ना, क्या तू भी मुझसे घिनाने लगी ?"

वह जैसे चौंकी और घूमकर खड़ी हो गयी। मैं निकट चला गया और फिर बोला—"पहले तो इतनी रुक्षता तुममें नहीं थी, अब क्या हो गया ?"

इस बार उसका कंठ फूटा। वह बोली—"नहीं तो······मैं···समय हो गया। माँ खोजती होंगी। फिर किसी दिन मुलाकात होगी तो बातें होंगी।" मैं उसे अधिक परीशान करना नहीं चाहता था। वह चली गयी।

सतीश

१०

जो होना था, हो गया !

अनुराधा के पति का अन्त हो गया। हाय ! बेचारा बहुत ही बेवकूफ की तरह जीवित रहा और समझदार की तरह मरा। उस दिन जब अनुराधा मेरे कमरे में घुसकर शराब की बोतल छीन रही थी, वह लाचार व्यक्ति काँपता हुआ कमरे के दरवाजे पर आया और फिर एक सर्द आह खींचकर खाट पर ऐसा गिरा कि मरकर ही उठा। मैं समझता था कि उसके हृदय पर कैसा आघात लगा और उस आघात ने ही उसका अन्त कर दिया। यद्यपि वह एक तैलहीन टिमटिमाता हुआ गरीब का चिराग था, किन्तु किसी तरह जी रहा था। हवा का एक हल्का झोंका आया और उसकी लौ को लेकर वह उड़ गया।

मैं याद करता हूँ उन दिन की घटना को, तो आज भी सिहर उठता हूँ। मैं शराब की बोतल छिपा रहा था और अनुराधा छीन रही थी।

एक प्रकार से वह मुझसे लिपटी हुई थी। मैं समझ रहा था कि उसके छीनने के तरीके के भीतर एक प्रकार की आत्मविह्वलता थी। माना कि वह मेरे लिये ही हाथापाई कर रही थी; किन्तु हाथापाई करने की एक सीमा होती है। एक सुन्दरी नवयुवती इस सीमा का ज्ञान रखती है, यदि उसे पर-पुरुष से स्नेहवश, यदि वह स्नेह शुद्ध हो तो हाथापाई करने का अवसर आवे। मुझे भी उसका इस तरह बोतल छीनना प्रिय लगता था और मैं चाहता कि यह छीना-झपटी काफी देर तक चले तो अच्छा। और, मैं यह भी जानता था कि अनुराधा को भी बहुत देर तक इस तरह छीना-झपटी करना प्रिय है। इसी समय मैंने देखा, दरवाज़े पर उसका पति खड़ा हाँफ रहा है। उसकी दयनीय मूर्ति ने भी हमारे भीतर भय का संचार किया। अनुराधा सिर झुकाकर कमरे से बाहर हो गयी और उसने हटकर जाने का रास्ता भी दे दिया; किन्तु मैं अपराधी की तरह हक्का-बक्का-सा एक ही जगह खड़ा रह गया।

भाई साहब ने काँपते हुए स्वर में कहा—"सतीश, जरा सुनना तो।" इतना बोलकर वह चिर रोगी अपने कमरे की ओर दीवार का सहारा लेता हुआ चला और मैं चला पीछे-पीछे ठीक भयभीत कुत्ते की तरह। कमरे मे पहुँचकर वह खाट पर गिरा। उसकी साँस इतनी तेज हो चली थी कि उसके लिये सँभालना कठिन हो रहा था। अपने आपको स्वस्थ करके वह बोला—"सतीश, यह क्या हो रहा था! क्या मैं सपना देख रहा था?"

मैंने साहस करके कहा—नहीं भैया, आपने जो कुछ देखा-सुना, वह ठीक ही था; किन्तु सचाई कुछ दूसरी ही थी।"

वह इस तरह बोला मानो वह स्वयं धोखा खाने के लिये उत्सुक

हो। जो कुछ उसने देखा था, उससे उसका मन बहुत ही व्यग्र हो रहा था और अपने मन की व्यग्रता से त्राण पाने के लिये वह किसी प्रकार के बहाने को भी सत्य मानने को तैयार था। उसके सामने मुख्य सवाल था व्यग्रता तथा मानसिक उद्वेग से त्राण पाना। किसी तरह आँख-देखी घटना को असत्य मान लेने को वह तैयार था। उस बेचारे की मानसिक स्थिति इतनी दयनीय थी!

मैंने कहा—"भैया, बात ऐसी है कि मैं आजकल कुसंग में पड़कर कभी-कभी पी लेता हूँ और अनुराधा भाभी इसको पसन्द नहीं करतीं। इसी बात को लेकर वे काफी बिगड़ा करती हैं। शराब की एक बोतल मैं ले आया और भाभी ने उसे किसी तरह देख लिया। पहले तो वे मुझे आपकी सेवा में लाना चाहती थीं; किन्तु जब मैं इसके लिये राजी नहीं हुआ तो वे बोतल छीनकर आपको दिखलाना चाहती थीं।"

मैंने देखा उसके चेहरे पर तृप्ति की एक हल्की रेखा झलकी और उसने प्रयत्न करके अपने मन के भार को उतार डालना चाहा जो उसकी शक्ति के बाहर का काम था।

वह बोला—"भाई, मैं भी यही समझ रहा था। खैर, अब पीना बन्द करो। यह आदत बुरी होती है। जीवन के प्रति सदय बनो। मेरी यह आखिरी सीख है।"

मैं चुपचाप बहुत ही श्रद्धा से उस मरणोन्मुख व्यक्ति का उपदेश सुनता रहा; किन्तु मन भीतर-ही-भीतर व्यग्र हो रहा था। जब मैं अनुराधा के निकट दूसरे दिन गया तो वह बहुत ही घबरा गयी थी। मैंने उससे सारी कहानी सुनायी तो वह कहने लगी—"यह उनकी महानता है बाबू! सचमुच मैंने अपना मूल्य उनकी नजरों से गिरा लिया।

अब वे मेरे हाथ की दवा नहीं लेते और न कुछ खाते ही हैं। पूछने पर केवल इतना ही कहते हैं—"मरना चाहता हूँ। जीवन की सारी साध एकबारगी ही मिट गयी।"

मैं भी असमंजस में पड़ा, किन्तु अब उपाय क्या था। मैंने जब अनुराधा से कहा—"मैं अपना डेरा बदल डालता हूँ"—तो वह अचानक मेरा हाथ पकड़कर बोली—"सब कुछ गँवाकर तुम्हें पाया और अब तुम भी धोखा देना चाहते हो। मैं फिर जीकर ही क्या करूँगी ?"

इतना बोलकर वह लज्जित हो गयी। आवेग में आकर वह एक बहुत ही बड़ी बात बोल गयी; किन्तु उस क्षणिक पागलपन के मिटते ही उसे बोध हो गया कि वह अपनी मुखरता के चलते एक भूल और कर बैठी।

मैंने पूछा—"क्या कहा तुमने भाभी ?"

वह संभलकर कहने लगी—"जो कुछ कहना चाहती थी कह चुकी:—किन्तु, इस संकट में मुझे निराधार छोड़कर जाना क्या तुम्हारे लिए उचित है ? जरा सोचो तो !" मैं क्या सोचता ? जो सत्य इतना स्पष्ट है कि अन्धा भी उसे देख सकता है, उसके विषय में अनुमान का आश्रय ग्रहण करना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

अनुराधा ने इधर-उधर देखकर कहा—"यदि भगवान से मुझे मुलाकात हो जाती तो मैं उनसे यही अनुरोध करती कि वह तुम्हें कम-से-कम छः महीने के लिये औरत बना डाले। फिर, तुम्हें स्त्री-हृदय की बातें समझने में आसानी होगी।"

अनुराधा की इस बात से मुझे हँसी आ गयी। उस रहस्यमयी नारी का अन्त पाना कठिन समझकर मैंने कहा—"आखिर तुमने इतना कठोर निश्चय क्यों किया ?"

वह बोली—"समझदारी से काम लो। मैं अब तुम्हारा त्याग नहीं कर सकती। एक बार जो निश्चय किया है, उसका निर्वाह तो जीवन भर होना ही चाहिए बाबू !"

मैं चुप लगाकर चला गया, किन्तु मैंने देखा कि अनुराधा रास्ता रोके खड़ी है। वह शरीर से रास्ता रोके नहीं थी; बल्कि मैंने अपने भीतर देखा कि अनुराधा रास्ता रोके खड़ी है और सोचने-समझने के सभी दरवाजों पर उसका पहरा है। मैं अपने भाई साहब के निकट अधिक रहता और यह देखता कि वे धीरे-धीरे सुबह के तारे की तरह लोप होते जा रहे हैं। जब अनुराधा उनके निकट जाती तो वे मुँह फेर लेने की चेष्टा करते। करवट बदलने की शक्ति का उनमें अभाव हो गया था; अतः आँखें बन्द करके ही रह जाते। अनुराधा जब उनका समाचार पूछती तो वे बहुत ही थोड़े शब्दों में अपना समाचार कह देते और कभी-कभी तो बोलते भी नहीं। अपराधिनी की तरह अनुराधा बहुत देर तक खड़ी रहती; किन्तु उसका पति उसकी ओर एक बार भी नहीं देखता। उसने मन से अनुराधा का त्याग ही कर दिया था। मैं बैठा रहता, किन्तु प्रायः मुझे चुप ही बैठना पड़ता था। दवा खाना तो उस व्यक्ति ने बन्द ही कर दिया था। हाँ, जब कभी फल का रस मैं देता तो उसे दो घूँट पी लेता। एक प्रकार से वह प्राणी आत्महत्या करने पर ही तुल गया था।

मैं अपने को ही अपराधी मानकर भीतर-भीतर बहुत आकुल होता, किन्तु अनुराधा जरा भी परवा नहीं करती। उसने एक दिन मुझसे कहा—"तुम इतना कातर क्यों रहते हो?"

मैं रुँधे हुए कंठ से बोला—"क्या बतलाऊँ, मुझे विश्वास हो गया

है कि भैया के मरने का पाप मेरे ही सिर पर लदेगा। मैं यदि यहाँ न आता तो वे शायद और दो-चार मास जीवित रहते !"

अनुराधा ने तेज स्वर में कहा—तुम पाप को निमन्त्रण देकर अपने सिर पर उसे लादने की फिक्र में हो। पाप एक प्रकार का भूत होता है और वह उसी को सताता है, जो उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। वे अपनी मौत मर रहे हैं। इसमें हमारा अपराध क्या है ?"

मैंने कहा—"उस दिन की घटना ने उनके हृदय को तोड़ दिया और ऐसा आघात पहुँचाया कि उनकी जीवनी-शक्ति बहुत जल्द क्षीण होती जा रही है। क्या यह अपराध नहीं है अनुराधा ?"

अनुराधा ने हाथ पकड़कर मुझे अपनी खाट पर बैठाया जिस पर लेटी हुई वह एक पुस्तक पढ़ रही थी। रात हो चुकी थी और महरी चली गयी थी। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश तारों से भरा हुआ था और वासन्ती पवन के हल्के-हल्के झोंके आ रहे थे। खुली खिड़कियों से शहर का जो भाग नजर आ रहा था, वह सपना की तरह दिखलाई पड़ता था।

अनुराधा बोली—"आखिर तुमने अपने को अपराधी मानकर अपने सिर पर पाप को लादने का संकल्प तो नहीं कर लिया ? पाप से तुम्हें इतना प्रेम होगा, ऐसा तो मैं नहीं समझती थी।"

मैं बोला—"तो तुम्हारी सम्मति क्या है साफ-साफ कहो।···मैं सचमुच भीतर-ही-भीतर बहुत दुर्बल होता जा रहा हूँ।"

वह बोली—"मैं यही कहती हूँ कि तुम अब जीवन भर कहीं न जाओ और इस संसार को······।"

मैं सिहरकर बोला—"बाप रे बाप !"

अनुराधा खिलखिलाकर हँस पड़ी और मेरे कन्धे को झकझोरती

से हट जाओ ताकि मरते समय मैं तुम में से किसी का भी मुँह न देख सकूँ।"

उनका प्रत्येक शब्द तीर की तरह सीधे चोट पहुँचा रहा था, किन्तु मैं क्या कहता। जीभ सूखकर तालू से जा लगी थी और अनुराधा का अजब हाल था। वह दीवार की ओर मुँह करके खड़ी-खड़ी बिसूर रही थी। मैं कमरे से बाहर आया और मेरे पीछे अनुराधा भी कमरे से निकल गई। वह बिना एक शब्द बोले बाहर फर्श पर बैठ गई और मैं भी बैठ गया। ऐसी भर्त्सना जिसका प्रतिकार न हो, इस जीवन में मेरे शत्रु को भी नसीब न हो।

सारी रात हम बाहर बैठे रहे। कमरे के भीतर से उनकी तेज साँस की आवाज आती रही। हम अनन्योपाय से बाहर इस तरह बैठे रहे, मानो हम में से किसी के शरीर में भी चेतना न हो।

सूर्योदय होने के पहले ही भाई साहब ने कूच कर दिया। उनकी लाश पर लोटकर अनुराधा रोती रही; किन्तु मैं अपनी जगह से जरा भी नहीं हिला, मानो जमकर पत्थर हो गया।

अन्त्येष्टि संस्कार आदि से छुटकारा पाकर अनुराधा ने कहा—"अब क्या करना चाहिए?"

उसका विधवा वेश बहुत ही श्रीहीन था। ऐसा लगता था कि एक ही क्षण में उसका सारा सौन्दर्य और सारी लुनाई लोप हो गयी। वह देखने में एक उजाड़ गाँव की तरह दिखलायी पड़ती थी।

मैंने कहा—"यह तो हुआ, किन्तु अब तो पिताजी मुझे यहाँ रहने नहीं देंगे। मैं तो अपने लिये सोचता-सोचता अधमरा हो रहा हूँ।"

अनुराधा बोली—"भला यह कैसे हो सकता है! मैं अकेली रह नहीं सकती और अब तो एकमात्र तुम्हीं हमारे भविष्य के धनीधोरी

हो। आने दो बाबू जी को, मैं उन्हें राजी कर लूँगी। हाँ, तुम्हारा जी ऊब उठा हो तो यह दूसरी बात है।"

मैंने कहा—"मैं ऊबता तो ऐसी बात कहता? तुम मेरी नीयत पर इस तरह सन्देह न किया करो अनुराधा!"

पिताजी नहीं आये; क्योंकि पुराना गठिया उभड़ आने के कारण वे चलने-फिरने से रहित थे। मैंने उन्हें पत्र लिखकर सूचना दी तो उन्होंने पत्र से ही मुझे कुछ दिन और ठहरकर सारी व्यवस्था कर डालने का आदेश दिया। पिताजी की ऐसी साधुवृत्ति का परिचय मुझे कभी नहीं मिला था। मैं उन्हें धोखा दे रहा था और वे मुझ पर विश्वास किये बैठे थे। मेरे भाई साहब अपनी कंजूसी के चलते काफी सम्पत्ति छोड़ गये थे। कई बड़े-बड़े मकान थे और बैंक में भी मोटी रकम जमा थी। यदि अनुराधा दो सौ साल भी जीवित रहती तो वह आराम की जिन्दगी बिता सकती थी। पहिले तो अनुराधा ने सोने की चूड़ियाँ पहनीं और फिर शीशे की चूड़ियाँ पहनकर उसने विधवा-वेश का बाकायदा परित्याग कर दिया। मैंने देखा कि उसके स्वभाव में काफी परिवर्तन हो गया है। उद्धतपने की मात्रा इस वेग से बढ़ने लगी कि लज्जा और संकोच का दिवाला-सा निकल गया। वह एक-दो दिन के बाद सिनेमा देखने जाती और खुलकर हँसती-गाती। हाँ, जब उसके पति की कोई चीज उसके सामने पड़ जाती, तो उसका चेहरा क्षण मात्र के लिये म्लान हो जाता।

दो दिन के लिये जब मैं घर गया तो अनुराधा ने रानी की तरह मुझे आदेश दिया—"अधिक दिन मत ठहरना। मैं यहाँ अकेली ही रहूँगी और जो उल्लू दरवान तुम ने रक्खा है इससे मेरा काम नहीं चल सकता। इस बूढ़े को तो शहर के रास्ते का भी ज्ञान नहीं है।

घर पहुँचकर पिताजी से जब मैंने सारा हाल सुनाया तो वे कहने लगे—"इतनी सम्पत्ति उसने छोड़ी ! मुझे तो विश्वास नहीं होता ! खैर, तुम ठीक ही कह रहे हो, किन्तु मेरा विचार है कि वहाँ तुम्हारा रहना ठीक नहीं। एकाध मास और रहकर अपनी पढ़ाई समाप्त कर लो। वकालत पास कर लेने के बाद फिर अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करना।"

मैंने सिर झुकाकर अपनी सहमति जनाई तो वे इधर-उधर देखकर बोले—"देखो, उस विधवा का कोई भाई वगैरह हो तो उससे बचना। कहीं ऐसा न हो कि वे साले आकर उसका यथा सर्वस्व हरण कर लें। मैं तो समझता हूँ तुम मेरी बातों को समझ रहे होगे !"

पिताजी दुनियादार आदमी थे। उन्हें धन की चिन्ता सता रही थी और वे चाहते थे कि उस विधवा की सम्पत्ति को मैं अपने कब्जे से बाहर न होने दूँ। पचासों हजार की बात ठहरी। इतने धन के लिये तो लोग न जाने कैसी-कैसी आफतें मोल लेते हुए भी नहीं हिचकिचाते।

माँ से यह सुनकर कि मेरा विवाह होनेवाला है, मैं बहुत ही मर्माहत हुआ और दो ही तीन दिन घर पर रहकर जब जाने की व्यवस्था करने लगा तो माँ ने कहा—"बस, इसी जेठ में तेरा विवाह ठीक है।"

मैंने कहा—"माँ, यह तो अत्याचार है। मैं बिना पढ़ाई खत्म किये इस झगड़े में पड़ना नहीं चाहूँगा। तुम मुझे नाहक परीशान करती हो।"

माँ ने नाक पर उँगली रखकर कहा—"सुनो इसकी बातें। शहर

में रहकर छोकरे का दिमाग फिर गया है। मैं मना करती थी कि वे इसे शहर की हवा न खाने दें पर मेरी सुनता ही कौन है।"

पिताजी, जो निकट ही खाट पर लेटे थे, बोले—"पढ़ा-लिखाकर मैंने कौन-सा अपराध किया जो इस तरह मेरे सिर पर दोष मढ़ रही हो!"

माँ कहने लगी—"मैं क्यों दोष मढ़ूँगी। जिन्दगी भर क्या पढ़ाई होती है? यह कौन सी पढ़ाई पढ़ रहा है जो खत्म ही नहीं होती। तीन साल हो गये शहर में रहते और अभी पढ़ाई का अन्त नजर नहीं आता।"

पिताजी ने कहा—"अगले साल यह वकील हो जायगा। एक साल की और देर है। क्यों रे सतीश यही बात है न?"

मैंने सिर हिलाकर गवाही दी, किन्तु माँ का मन न भरा। वह बोली—"मैं जानती हूँ तुम रुपये खर्च करना नहीं चाहते। यही कारण है कि इसका विवाह होने देना तुम्हें स्वीकार नहीं है। मैं तुमसे एक धेला भी नहीं लूँगी और इसी साल इसका विवाह होकर ही रहेगा। मैं बात हार चुकी हूँ। लड़कीवाले की आबरू का ख्याल होना चाहिये।"

मैं मन-ही-मन इस आफत को कोसने लगा, किन्तु माँ अपने हठ को त्यागना नहीं चाहती थीं। पिताजी भी चुप लगा गये और माँ ने रो-पीटकर सारे घर को सिर पर उठा लिया। गाँव की बूढ़ी औरतों ने बे—बुलाये आकर वातावरण को और भी क्षुब्ध बना डाला। मैं ऐसी डायनों से बहुत कुढ़ता हूँ। मैं निश्चित दिन के एक दिन पहिले ही जब शहर की ओर चल पड़ा तो माँ बोली—"देख इस बार इनकार किया तो मैं गले में रस्सी डाल कर······।"

मैं घबरा कर बोला—"माँ ऐसा मत बोलो···तुम्हारी आज्ञा पालन करूँगा। जब मैं लौटकर अनुराधा के निकट आया तो उसने न तो मेरे घर का कोई हाल पूछा और न मेरा। उसने छूटते ही प्रश्न किया कि तुम दो दिन अधिक कहाँ रह गये ?

मैं उसके इस बेतुके सवाल पर झुँझला उठा ; किन्तु मन को शान्त करके जब सब समाचार सुनाया तो वह कहने लगी—"अब तुम्हारा घर जाना किसी भी हालत में ठीक नहीं जँचता। वहाँ जाने ही से एक-न-एक उपद्रव पैदा हो जाता है। पिछली बार जब गये तो शादी का संदेश ले आये और इस बार गये तो माताजी की प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। यह सब कांड घर जाने ही से होता है। नहीं, अब तुम्हें आँखों से ओट होने देना उचित नहीं है।"

इतना बोलकर उसने ऐसा कठोर मुँह बनाया कि मैं सहमकर चुप रह गया। उसके स्वभाव में जो परिवर्तन होता जा रहा था उसे मैं ध्यान से देखता और परखता था; किन्तु उस रहस्यमयी नारी का ठीक-ठीक पता चलना कठिन ही था।

मैं नमक, लकड़ी, आटा, दाल की व्यवस्था में लगकर बरबाद होता जा रहा था, इसकी ओर मेरा ध्यान न था। एक विधवा नवयुवती, जो साँप से भी अधिक खतरनाक साबित हो चुकी थी, रात-दिन मेरे आस्तीन में रह रही थी, यह कुछ कम चिन्ता की बात न थी। मैं हैरान होता था जब न तो मैं अनुराधा के साथ रहना चाहता था और न उससे अलग रहने की ही मेरी इच्छा होती थी। औरतों में यह बड़ी विचित्रता होती है। पुरुष उनके बिना रह नहीं सकता है और न उनके साथ ही सुख से रहा जा सकता है। पर-

पीड़न की प्रवृत्ति नारी जाति में पाई जाती है, उसे पुरुष पसन्द भी करता है और उससे बचना भी चाहता है।

कभी अनुराधा मुझे दूर धकेल देती और कभी खींचकर अपने निकट बुला लेती। मैं अन्त तक यह समझ ही नहीं सका कि मैं उसके निकट हूँ या दूर। जैसा भी रहूँ, उसकी निकटता का त्याग करना मेरे लिये शरीर त्याग से कम दुखदायी न था। मैं पूरी तरह नागपाश में बँध चुका था और बँधा रहना चाहता था।

मैं घबरा कर बोला—"माँ ऐसा मत बोलो···तुम्हारी आज्ञा पालन करूँगा। जब मैं लौटकर अनुराधा के निकट आया तो उसने न तो मेरे घर का कोई हाल पूछा और न मेरा। उसने छूटते ही प्रश्न किया कि तुम दो दिन अधिक कहाँ रह गये ?

मैं उसके इस बेतुके सवाल पर झुँझला उठा; किन्तु मन को शान्त करके जब सब समाचार सुनाया तो वह कहने लगी—"अब तुम्हारा घर जाना किसी भी हालत में ठीक नहीं जँचता। वहाँ जाने ही से एक-न-एक उपद्रव पैदा हो जाता है। पिछली बार जब गये तो शादी का संदेश ले आये और इस बार गये तो माताजी की प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। यह सब कांड घर जाने ही से होता है। नहीं, अब तुम्हें आँखों से ओट होने देना उचित नहीं है।"

इतना बोलकर उसने ऐसा कठोर मुँह बनाया कि मैं सहमकर चुप रह गया। उसके स्वभाव में जो परिवर्तन होता जा रहा था उसे मैं ध्यान से देखता और परखता था; किन्तु उस रहस्यमयी नारी का ठीक-ठीक पता चलना कठिन ही था।

मैं नमक, लकड़ी, आंटा, दाल की व्यवस्था में लगकर बरबाद होता जा रहा था, इसकी ओर मेरा ध्यान न था। एक विधवा नवयुवती, जो साँप से भी अधिक खतरानाक साबित हो चुकी थी, रात-दिन मेरे आस्तीन में रह रही थी, यह कुछ कम चिन्ता की बात न थी। मैं हैरान होता था जब न तो मैं अनुराधा के साथ रहना चाहता था और न उससे अलग रहने की ही मेरी इच्छा होती थी। औरतों में यह बड़ी विचित्रता होती है। पुरुष उनके बिना रह नहीं सकता है और न उनके साथ ही सुख से रहा जा सकता है। पर-

पीड़न की प्रवृत्ति नारी जाति में पाई जाती है, उसे पुरुष पसन्द भी करता है और उससे बचना भी चाहता है।

कभी अनुराधा मुझे दूर धकेल देती और कभी खींचकर अपने निकट बुला लेती। मैं अन्त तक यह समझ ही नहीं सका कि मैं उसके निकट हूँ या दूर। जैसा भी रहूँ, उसकी निकटता का त्याग करना मेरे लिये शरीर त्याग से कम दुखदायी न था। मैं पूरी तरह नागपाश में बँध चुका था और बँधा रहना चाहता था।

विभाकुमारी

११.

वनमाली का समाचार सुनकर मैं तो सन्नाटे में आ गई !

वह पहिले तो क्रान्तिकारी बना और फिर मुखबिर बनकर जेल से बाहर निकल आया। किसी भी नवयुवक के लिये यदि वह क्रान्तिकारी बनने का स्वांग भरता हो, मुखबिर बन जाना कितना घृणित कर्म है, यह तो हम-आप सभी जानते हैं। सतीश ने जब आकर वनमाली का समाचार सुनाया तो मेरा मन बहुत ही विकल हो उठा। यों तो वह पल्ले सिरे का नालायक था, किन्तु न जाने क्यों उसे देखकर मैं दया से कातर हो उठती थी। सचमुच में जब किसी मूर्ख या बेहूदे को देखती हूँ तो क्रोध की जगह पर दया का संचार मन में हो जाता है। वनमाली इसी अर्थ में दया का पात्र था।

सतीश ने जब मुझसे यह कहा कि उस मूर्ख ने विष खाकर आत्महत्या कर ली तो मैं सन्नाटे में आ गई। उसकी मूर्खता यहाँ तक

चढ़ी कि उसने अपने को ही उसका निशाना बना दिया। प्रायः ऐसा होता है कि जब किसी मूर्ख को मूर्खता करने का अवसर नहीं मिलता, तो वह अपने आपको ही अपनी नालायकी का शिकार बनाता है। जिस तरह जंग लोहे से उत्पन्न होकर लोहे को ही खा डालती है, उसी तरह मूर्खता भी अपने जन्मदाता को ही चबा डालती है। सुना है कि सरकार ने वनमाली पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि उसे नित्य थाने पर जाकर हाजिरी देनी होगी। इस प्रतिबन्ध को वह सह लेता यदि आनन्द कृष्ण नाम का एक छोकरा जो, ५ साल जेल के कसाले सहकर गाँव में पूर्ण गौरव से न आता। वनमाली को उसके मन में पैदा होनेवाली कुढ़न ने बेजार किया और एक दिन उसने न जाने क्या खाकर अपना अन्त कर लिया।

यों तो वह बहुत दिन पहले ही मर चुका था, किन्तु भौतिक दृष्टि से उसकी मौत तब हुई जब उसने विष खाने का पाप किया। पाप का ही सदा आश्रय ग्रहण करनेवाले उस अभागे का अन्त भी पाप के ही द्वारा हुआ।

मैं वनमाली को बुलाना चाहती थी, क्योंकि वह बहुत ही धूर्त था और मुझे इस समय एक छँटे हुए धूर्त की आवश्यकता है। मेरे पतिदेव कहाँ हैं, यह तो पता चल गया है; किन्तु वे कैसे आवें इसी उपाय की खोज करना चाहती थी। जेल से भैया दमा लिये आये, साथ ही वैराग्य भी। उनका तेज तो देखते ही बनता है, किन्तु शरीर की हालत रोने के योग्य है। वे प्रायः अपने आपको अपने पुस्तकालय में कैद रखते हैं। जो विचित्र-विचित्र सूरतें उनकी सेवा में आती हैं वह भी भूलने के योग्य नहीं हैं। कोई बौना है तो कोई ऊँट की तरह लम्बा। सभी रहस्यपूर्ण हैं और सभी छँटे हुए।

सरकारी पालतू रात-दिन घर के आसपास मंडराया करते हैं, किन्तु भैया तो मानो अचल पाषाण हो गये हैं। चिन्ता और हानि-लाभ से परे उनकी स्थिति है। वीतराग होकर वे न जाने किस साधना में लीन हैं, यह भगवान ही जानें! उस दिन वह लम्बा व्यक्ति बहुत सी पुस्तकें ले आया और रात भर भैया के बन्द कमरे में रोशनी जलती रही। भीतर जाने का साहस नहीं होता। आने-जानेवालों की भीड़ बढ़ती ही जाती है, किन्तु सभी गूँगे और बहरे जान पड़ते हैं। कोई लोहार जैसा लगता है तो कोई मोची जैसा। भैया इनका स्वागत करते हैं और बन्द कमरे में इनसे बातें होती हैं।

माँ से जब कुछ कहती हूँ तो वह बहुत ही शान्त भाव से उत्तर देती हैं—"बेटी, भगवान पर भरोसा रक्खो। वह जो कुछ करता है भले के लिये।"

इस विराट् ईश्वरवाद का रहस्य मेरी समझ में नहीं आता।

× × ×

मैनेजर आये और मैं घर जाने की व्यवस्था में तल्लीन हो गई। जाते समय जब भैया के कमरे में घुसी तो वे पुस्तकों और कागजों में डूबे हुए बैठे थे। उन्होंने अर्थहीन दृष्टि से मेरी ओर देखा और कहा—"तू जा रही है?" मैंने उन्हें जब जाने का कारण बतलाया तो वे धीरे-से बोले—"अच्छा!" इस छोटे-से "अच्छा" को सिर आँखों पर धारण करके मैं घर की ओर चली। ट्रेन पर भी मैं भैया की बात सोचती रही और जब तक घर नहीं पहुँची मेरा मन भैया के चारों ओर घूमता ही रहा।

घर पहुँचने पर मुझे पता चला कि मेरे पतिदेव आये हैं और नाना प्रकार के रोग भी अपने साथ लिये आये हैं। होली की तरह

पेट आगे की ओर निकला हुआ था। चेहरा विवर्ण हो गया था और छाती भीतर धँस गई थी। मैं सिर थामकर बैठ गई। डाक्टर आये और बड़े समारोह से इलाज आरम्भ हुआ। लीवर, प्लीहा और जिगर सभी एक साथ विकास पर थे। ह्रास की ओर था तो केवल उनका जीवन जिसकी परवाह उन्हे नहीं थी। मेरी सूरत देखते ही उन्होंने कहा—"यह शरीर तुम्हारा था इसीलिए इसे तुम्हें सौपने आ गया। मैं जहाँ था सुखी था; किन्तु यदि उसी तरफ मर जाता तो एक ऋण सिर पर लदा रह जाता और वह ऋण था इस शरीर का, जो तुम्हारा है।"

मैं रोने लगी तो वे कराहकर बोले—"दवा वगैरह की आवश्यकता नहीं है विभा! मैं नहीं चाहता कि तुम्हें खर्च में फँसाऊँ।"

इस निष्ठुर प्रहार से मैं कातर होकर विलख उठी। मैंने साहस करके कहा—"आखिर मेरा अपराध?"

वे बोले—"नहीं, अपराधी तो मैं हूँ जिसके चलते तुम्हारा यौवन और जीवन दोनों का अन्त होने जा रहा है। खैर, जो तुम्हारी इच्छा हो करो। मैं अपनी बात कहकर निश्चिन्त हो गया।"

इतना आश्वासन मेरे लिये बहुत कुछ था। मैंने बड़े-से-बड़े डाक्टर का प्रबन्ध किया और वे आराम होने लगे। मैं खाना-सोना भूलकर उनकी सेवा में लगी और चार मास के अथक परिश्रम के बाद उन्हें फिर से प्राप्त कर सकी। जब वे पूर्ण स्वस्थ हो गये तो एक दिन वे एक लिफाफा लिये हुए मेरे पास आये और शान्त स्वर में बोले—"विभा, यह पत्र तुम्हारे नाम से आया है और मैंने इसे पढ़ा है।"

मैं घबरा कर बोली—"कहाँ से पत्र आया है?"

जीवन से ही हाथ धो बैठी। पद-पद पर अपमान और कभी-कभी मारपीट भी। नौकर तक मुझे भला-बुरा कहते। नौकरानियों ने मेरा नाम कुलच्छनी रख छोड़ा था।

कैसी परिस्थति में पड़कर मानव अपनी जान पर खेल जाता है, इसका अनुभव मुझे होने लगा; किन्तु यह अनुभव तब हुआ जब उससे लाभ उठाने का समय समाप्त हो चुका था।

दशहरा आया और दीवाली समाप्त हो गई; किन्तु मेरी आपदा का अन्त न था। घर से पत्र आते होंगे, किन्तु वे मुझे नहीं मिलते थे। मैं यदि घर पत्र लिखना चाहती तो कोई उसे लेटरबक्स तक ले जानेवाला न था। इतनी कड़ाई तो जेल में भी नहीं जितनी मैं भुगत रही थी।

जाड़ा पड़ रहा था और मैं ज्वर के ताप से झुलस रही थी। अपने कमरे में अकेली पड़ी-पड़ी मैं कराह रही थी कि कमरे का दरवाजा अचानक खुला और मैंने देखा, मेरे पतिदेव आये। मैं उठ नहीं सकती थी, किन्तु फिर भी उठने का प्रयत्न किया। वे आकर खड़े हुए और बोले—"अभी तक तू मरी नहीं? मैं यही देखने आया था।"

इतना बोलकर उन्होंने मेरे मुँह पर थूक दिया और कहा—"मैं तो तेरी खाल उधेड़ने आया था, किन्तु बीमार देखकर दया आ गई। खैर, जी गयी तो फिर देखा जायगा।"

इतना बोलकर उन्होंने बहुत ही घृणा से चारों ओर देखा। मैं रोती हुई आँखें मूँद खाट पर लेट गई। वे फिर दाँत पीसकर बोले—"कमीनी कहीं की! नखरे दिखलाती है। जी तो चाहता है कि दरबान के हाथों से तुझे जूते लगवाऊँ, किन्तु इसमें मेरी ही बेइज्जती होगी। खैर............।"

वे जब चले गये तो मैं फूट-फूट कर रोई; किन्तु न तो वहाँ कोई आँसू पोछनेवाला था और नहीं धीरज बँधानेवाला। मैं ही रोती और मैं ही अपने को तोप देती। मैं पूछती हूँ कि ऐसी स्थिति में रहकर वेश्या से भी वेश्या मानव जीना पसन्द नहीं करेगा; किन्तु निश्चय ही मैं अपराधिनी थी और इस तरह के व्यवहार की अधिकारिणी भी थी। जब-जब मेरे मन में यह बात आती मेरा हृदय अकारण पुलकित हो उठता और मैं अपने भीतर बल का अनुभव करती। प्रायश्चित की पवित्रता मैं जानती थी; किन्तु वह होती है लोहे के चने चबाने जैसा कठिन।

एक एक दिन करके महीना समाप्त हो गया और मेरा साहस भी घिसता-घिसता बिल्कुल नाममात्र को रह गया। मैं बिना दवा और सेवा के शरीर से निरोग हो गई; किन्तु मेरे भीतर जो घुन लग चुका था; उसका अन्त न था। अपमान, घृणा और लांछना से भरे हुए जीवन की कल्पना करना जितना सहज है उतना इस तरह जीवन को अंगीकार करना सहज नहीं है। वे शायद ही कभी घर पर रहते। जब आते तो हवा में कँपन-सा भर जाता और मैं काँपने लगती। वे आते और चले जाते; किन्तु जब उनका जी चाहता मेरे निकट भी आते और जीभर कर मेरा अपमान करते। यहाँ तक कि नैकरानियों को बुलाकर उनके मुँह पर मेरा अपमान करते। नीचे नौकर कान खड़े करके उनका हुँकार और चीत्कार सुनते। मैं सिर झुकाकर खड़ी-खड़ी सब सुनती और आँसू पीती जाती। जब वे चले जाते तो रोती और जब रोते-रोते थक जाती तो फिर, उन्हीं शोख और पाजी नौकरानियों के साथ घर के काम में लग जाती। मैं देखती कि मेरे इस लांछित जीवन के प्रति किसी की भी सहानुभूति नहीं रहीथी। मैनेजर भी मेरी सुध नहीं

लेता। एक-दो बार मैंने उसे बुलाना चाहा तो उसने बहानेबाजी का आश्रय ग्रहण करके टाल दिया।

देखते-देखते मेरे भीतर जितना साहस और धैर्य था,वह सब शेष हो गया। एक दिन एक नौकरानी ने बातों-ही-बातों में कहा—"आप हमारी मालकिन हैं; किन्तु गरीब रहते हुए भी हम पति के प्रति विश्वासघात करना पसन्द नहीं करतीं। आपलोग अंग्रेजी पढ़कर मेम साहब बन जाती हैं और अपना धर्म खोकर......।"

मैंने उसे डपटकर कहा—"तू इतना साहस अपने भीतर पाती है कि ऐसी बातें मेरे सामने बोलती है?"

वह बोली—"अगर हिम्मत हो तो आप भी मेरे सम्बन्ध में कुछ कहिये। मालिक तो दयावान हैं जो आपकी जान बच रही है। गरीब के घर में आप होतीं तो आपका गला घोंट दिया जाता।"

मैं घबराकर उसका शरारत से भरा मुँह देखने लगी। वह विषभरी मुस्कान के साथ कहने लगी—"जिस दशा में आप जी रही हैं, उस दशा में को कोई भी इज्जतदार औरत अपनी जान दे देती। अंग्रेजी पढ़कर......।"

मैं अधिक सुन न सकी और अपने कमरे में चली गई। सभी नौकरानियाँ आपस में कानाफूसी करने लगीं। यह दृश्य मेरे लिये असहनीय था।

आत्महत्या कर लेना क्या उचित होगा? अब यह सवाल मेरे दिमाग में शोर मचाने लगा। आत्महत्या एक डरावनी चीज है। मैंने बहुत सोच-विचार करना आरंभ किया। कभी-कभी तो आत्महत्या की कल्पना सुखद जान पड़ती और कभी-कभी बहुत ही भयंकर। ज्यों-ज्यों समय बीतता और ज्यों-ज्यों मैं सोच-विचार करती, आत्महत्या की

मेरी इच्छा निर्बल पड़ती जाती। अन्त में मैंने आत्महत्या के दूसरे रूप को ही पसन्द किया और वह मुझे पसन्द भी आया। गृहत्याग कर डालना भी मेरी जैसी स्थिति की स्त्री के लिये आत्मघातवत् ही है; किन्तु यह कैसे संभव हो, अब यही सोचना बाकी रहा।

यदि मैं उनसे कहकर जाती हूँ तो वे जाने का आदेश नहीं देंगे और यदि चुपके से चली जाऊँ, तो कहाँ जाऊँ यही सोच नहीं पाती। वनमाली ने जब आत्मघात किया था, तो मैंने उसकी निन्दा ही की थी; किन्तु जब स्वयम् मैं ऐसी स्थिति में पहुँच गयी कि जीना दूभर हो गया, तो मेरे विचार बदल गये। सुना कि वे बाहर गये हैं—शायद काशी या दिल्ली। मन को चैन मिला और आराम भी; किन्तु उस दिन मेरा कलेजा धक्-से करके रह गया जब मैंने उन्हें अपने सामने खड़ा पाया। उनके साथ एक दूसरी स्त्री थी, जो देखने में बाजारू औरत जान पड़ती थी। उन्होंने आदेश दिया—"यह यहीं रहेगी और इसके आराम का पूरा दायित्व तुम्हारे ऊपर है। इसे कष्ट हुआ तो फिर खैर नहीं।"

मैं अपनी बाजी हार चुकी थी। अन्याय के प्रति सिर उठाने का साहस नहीं था, किन्तु अपमान की इस अन्तिम सीमा पर पहुँचकर मेरा मन विद्रोही हो गया। मैंने साहस बटोरकर कहा—"आप मेरे स्वामी हैं; जैसा भी व्यवहार आपने मेरे साथ किया, उसे मैंने सिर झुकाकर स्वीकार किया; किन्तु अब सहा नहीं जाता।"

इतना बोलकर मैंने उनके पैर पकड़ने का उपक्रम किया; किन्तु उन्होंने मुझे जोर से एक धक्का देकर कहा—"फिर वही माया! मैं जो कह चुका वही ठीक है।"

अचानक मेरा सारा शरीर गरम हो उठा और मैंने कहा—"अच्छी बात है।"

मैंने देखा, वे क्षण भर के लिये सहमकर रुक गये। जो स्त्री उनके साथ थी, वह बोली—"आप यह क्या करते हैं ? इस तरह अपनी स्त्री को अपमानित करना उचित नहीं।"

मेरे पति ने लौटकर उस स्त्री को देखा और कहा—"आज से इसे मैं तुम्हारी दया पर छोड़ता हूँ। इसने मेरे साथ विश्वासघात किया है।"

वह स्त्री मुस्कराई और बोली—"और मैंने कितनों के साथ विश्वासघात किया है इसका लेखा-जोखा शायद भगवान के दफ्तर में भी नहीं होगा। आप अब चलिये और इन्हें क्षमा कीजिये।"

मैं अकचकाकर उसका मुँह देखती रह गयी तो वह बोली—"आप यहाँ खड़ी क्या करती हैं ? जाइये और इन्हें बकने दीजिये। इनका स्वभाव ही कुछ इसी तरह का है। आपने अपने पति को भी आज तक नहीं पहचाना ? मैंने तो इन्हें दूसरे ही क्षण पहचान लिया था।"

मेरे पति ने कहा—"तो तुमने भी इसी नालायक स्त्री का समर्थन किया ? यह तो बहुत ही बुरी बात है लाड़िली !"

लाड़िली ने तिनककर उत्तर दिया—"इसमें बुराई क्या है सरकार ? मैं आपकी आश्रिता हूँ तो इसके मानी यह नहीं कि कल बिजलीवाली दशा मेरी भी हो। मैं इस झगड़े में रहना नहीं चाहती। मैं जहाँ हूँ, वहीं मुझे रहने का हुक्म दीजिये।"

तुम्हारी इच्छा—कहकर पतिदेव चले गये और मैं उस स्त्री की तेजी पर मुग्ध थी। लाड़िली एक स्वतन्त्र स्त्री थी। न तो वह किसी की पत्नी थी और न किसी की माँ-बहन। एक स्वतंत्र स्त्री की तरह उसने अपना परिचय दिया। रात को मैं खाट पर लेटकर अपने भविष्य की योजना बनाती रही; किन्तु एक भी बात पर मन नहीं टिकता।

दिमाग ही कुछ ऐसा बौखला गया था कि सीधी तरह कुछ भी सोचना मेरे लिये असंभव हो चुका था ।

एक रात को जब अच्छी तरह सर्दी पड़ रही थी—सारा संसार मोटे-मोटे लिहाफ ओढ़कर और कुछ पयाल में घुसकर अपनी रक्षा कर रहा था, मैंने अपने घर को अन्तिम बार प्रणाम किया ।

मैं सावधानी से बाहर निकली और खुली सड़क पर पहुँचकर इधर-उधर देखने लगी । दरबान वगैरह सो रहे थे और सड़क पर की दूकानें बन्द थीं । मैं घबराकर रुक गयी और फिर लौटकर अपनी जगह पर पहुँच जाना चाहती थी । स्टेशन दूर था और मैं अकेली थी । साहस को पुकारा, किन्तु वह भी मेरे मन के किसी कोने में सिकुड़ा हुआ पड़ा सो रहा था । उसने भी साथ नहीं दिया, किन्तु मैं आगे बढ़ी । कालेज में पढ़ते समय बहुत बार अकेली यात्रा करने का मौका मिला था; किन्तु वैसी अंधेरी रात में और खुले मैदान से होकर स्टेशन तक जाने का कभी अवसर नहीं आया था । मैं अपने को छिपाती हुई आगे बढ़ी और तत्काल उस छोटे-से कस्बे के बाहर होकर बड़ी सड़क पर आ गयी । मैं आगे बढ़ी, किन्तु अपने ही पैर की आवाज से रह-रहकर घबरा उठती थी और छिपने की चेष्टा करती थी । ठंढी हवा के थपेड़े मेरे सहायक थे, जो किसी को बाहर निकलने का मौका नहीं देते थे । मैं सीधी सड़क पकड़कर आगे बढ़ी और फिर देखा कि चाँद निकल रहा है । धूमिल चाँदनी ने आगे के पथ को प्रकाशमान किया । मैंने देखा, दूर पर स्टेशन का सिगनल चमक रहा है और इंजन की सीटी भी हवा को चीरती हुई कभी-कभी गूँज पड़ती है । मैं थक गयी थी; किन्तु फिर भी शरीर को घसीटती हुयी बढ़ती गई ।

अनुराधा

१२

सतीश भी विचित्र व्यक्ति है !

मैं चाहती थी उसे अपनाऊँ, किन्तु उसका व्यवहार कुछ ऐसा होता है कि मेरा मन रह-रहकर उदास हो जाता है। वह कभी भी दिल खोल-कर न तो बातें करता है और न अपने मन के सभी दरवाजों को ही खोलता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वह अपने बन्द मन के भीतर जिस अन्धकार और ऊमस को छिपाये हुए है, उसके प्रति उसके भीतर कुछ मोह-सा है। मैंने अपने यौवन के प्रथम परिच्छेद को निराशा और झुँझलाहट से भरे हुए आत्मतोष के साथ समाप्त किया। मेरे तथाकथित पति का अन्त हुआ तो मैंने देखा कि यह मेरे जीवन का दूसरा परिच्छेद अनायास आरंभ हो गया। इस परिच्छेद को सतीश के साथ मैं लिखूँगी, किन्तु यह आशा इतनी शीघ्रता से विलीन होती जा रही है कि मैं अपने को अब निराधार देख रही हूँ।

एक दिन मैंने सतीश से कहा—"विधवा विवाह को तुम कैसा समझते हो?"

वह चौंक उठा और बोला—"मुझे भी बारात के स्वागत करने का गौरव प्रदान करोगी या नहीं?"

मैंने बनावटी झुँझलाहट के भाव चेहरे पर लाकर उसकी ओर जब देखा तो वह बोला—"सच कहता हूँ अनुराधा, इस मुद्रा में तुम्हारा यह अनिन्द्य रूप बहुत ही निखर पड़ता है।"

अपने रूप की प्रशंसा सुनकर मुझे तो आनन्द प्राप्त हुआ, किन्तु मूल विषय तो अछूता ही रह गया। मैंने फिर अपने प्रश्न को जब दुहराया तो वह बोला—पहले मैं वर महोदय को देखकर तब सम्मति दूँगा।"

मैं बोली—"वर महोदय से ही तो सवाल कर रही हूँ; किन्तु वे परले सिरे के मूर्ख हैं जो सीधी-सी बात को भी नहीं समझ पाते।"

मेरी इस सीधी चोट ने उसे तड़पा दिया। वह जैसे घबरा उठा हो। मैं फिर बोली—"चौंके क्यों? धोखा देने की इच्छा है क्या?"

वह कहने लगा—"यह तुमने कैसे समझा कि मैं धोखा देना चाहता हूँ। मैंने कहा—"तुम्हारी बातों से यह पता चलता है। मैं तो तुम्हें अपना समझे बैठी हूँ। इस संसार में अब मेरा है कौन?"

सतीश बोला—अभी तो भाई साहब को मरे एक साल भी नहीं हुआ, फिर तुम इतनी जल्दबाजी क्यों कर रही हो?"

मृतपति की याद ने मुझे उदास कर दिया; किन्तु मन को मैंने दूसरी ओर लगाया। रात अधिक हो चुकी थी। सतीश ने सोने का बहाना किया; किन्तु मैंने उसे सोने से रोका और कहा—"हाँ, यह ठीक है कि अभी उनका वार्षिक श्राद्ध बाकी है; किन्तु जब एक दिन हमें एक

सूत्र में बँधना ही है तो फिर उसपर आज ही सोच-विचार क्यों न कर लिया जाय।"

सतीश बोला—"यदि हम बिना विवाह किये ही साथ रहें तो क्या हर्ज है ? मेरे पिताजी तो स्वीकृति देंगे नहीं और माँ...। आखिर मैं घर का त्याग तो कर नहीं सकता अनुराधा !"

मेरा माथा ठनका, किन्तु फिर बोली—"बिना विवाह किये साथ रहने का क्या कुपरिणाम होगा, इसपर कभी विचार किया है तुमने ?" सतीश उठकर बैठ गया और बोला—"अच्छा, अब मैं इस सवाल को तुम्हारे ही ऊपर छोड़ता हूँ; किन्तु मेरी स्थिति का भी ध्यान रखना। मैं सतीश ही बना रहना चाहता हूँ; किन्तु जब तुम मेरा नाम बदल देना चाहती हो तो तुम्हारी इच्छा।"

मैं बोली—"तुम क्या मुसलमान होने जा रहे हो जो तुम्हारा नाम बदल जायगा ?"

सतीश ठंढी साँस लेकर बोला—"अनुराधा ! जीवन में मैंने पहली बार तुम्हें प्यार किया और शायद अन्तिम बार भी। नाम बदलने के मानी हैं कि विवाह के बाद मैं तुम्हारा पतिदेव हो जाऊँ।"

मैं बोली—"तो इसमें हानि ही क्या है ! मैं तो तुम्हें उनके जीवन-काल से ही पतिदेव माने बैठी हूँ। अब दुनिया को भी यदि इसका परिचय दे दिया जाय तो इसमें कौन-सा अनर्थ हो जायगा ?"

'अनर्थ !' सतीश ने बहुत ही दुःख भरे स्वर में कहा—"अनुराधा, मैं अपनी माँ का स्मरण करता हूँ तो छाती फटती है। वह निश्चय ही आत्मघात कर लेगी। इस आघात को पिताजी हँसकर सह लेंगे, किन्तु मेरी माँ नहीं सह सकेगी। इतनी ही सी चिन्ता मुझे सताया करती है।"

मैं झुँझलाकर बोली—"तो आज तुम मुझे अन्तिम उत्तर दे रहे हो ?

इस उत्तर ने तो मेरे जीवन को दूभर कर दिया। एक-न-एक आत्महत्या का पाप तो तुम्हारे सिर पर लदेगा ही। माँ की रक्षा करोगे तो मैं... और मेरी रक्षा करोगे तो माँ जान दे देगी।"

सतीश अपना सिर खुजलाता हुआ बोला—"यही तो चक्रव्यूह का सातवाँ फाटक है रानी!"

मैंने उसे अधिक निचोड़ना नहीं चाहा। मैं जानती थी कि उसकी नाक में नकेल डालकर मैं जिस तरह चाहूँ, उसे नचा सकती हूँ—विवाह की बात तो एक दिल्लगीमात्र थी। विवाह कर लेने के बाद जीवन का वह आनन्द तो काफूर ही हो जाता है जो रहस्य के रूप में रहता है। आज हम प्रेमी और प्रेमिका के रूप में हैं। दुनिया की नजरों से छिपना पड़ता है, डरना पड़ता है और बदनामी भी सिर पर लद चुकी है। इन बातों ने जिस तीव्र रस का संचार हमारे मिलन में किया है, उससे हमारा एक साथ रहना बहुत ही तीखा आनन्द देता है जिसका आनन्द विवाह होते ही समाप्त हो जायगा। असाधारण और उत्तेजक स्थिति में रहकर प्यार करना एक चीज है और बिल्कुल निश्चिंत रहकर गृहस्थी का कोल्हू चलाना दूसरी चीज। जब मेरे पति जीवित थे तब सतीश के निकट बैठने से जो मानसिक उद्वेलन का रस मुझे मिलता था, वह अब नहीं मिलता; क्योंकि भय का स्थान एकदम ही नहीं रहा। विवाह हो जाने के बाद सामाजिक छिः छिः थू-थू का भी अन्त हो जायगा। पाप की तीखी शराब में जितना तेज नशा होता है, उतना और कहीं संभव नहीं है। मैं जिस तीव्र नशा को पसन्द करती हूँ, उससे कम नशीली चीज से मुझे भरपूर आनन्द नहीं मिल सकता। अतः पाप की ज्वाला में जलकर जिस कसकसाहट का अनुभव करती रहती हूँ, उसका अन्त कर देने के मानी है जीवन को विरस बना डालना।

सूत्र में बँधना ही है तो फिर उसपर आज ही सोच-विचार क्यों न कर लिया जाय।"

सतीश बोला—"यदि हम बिना विवाह किये ही साथ रहें तो क्या हर्ज है ? मेरे पिताजी तो स्वीकृति देंगे नहीं और माँ...। आखिर मैं घर का त्याग तो कर नहीं सकता अनुराधा !"

मेरा माथा ठनका, किन्तु फिर बोली—"बिना विवाह किये साथ रहने का क्या कुपरिणाम होगा, इसपर कभी विचार किया है तुमने ?" सतीश उठकर बैठ गया और बोला—"अच्छा, अब मैं इस सवाल को तुम्हारे ही ऊपर छोड़ता हूँ ; किन्तु मेरी स्थिति का भी ध्यान रखना। मैं सतीश ही बना रहना चाहता हूँ; किन्तु जब तुम मेरा नाम बदल देना चाहती हो तो तुम्हारी इच्छा।"

मैं बोली—"*तुम क्या मुसलमान होने जा रहे हो जो तुम्हारा नाम बदल जायगा !*"

सतीश ठंढी साँस लेकर बोला—"अनुराधा ! जीवन में मैंने पहली बार तुम्हें प्यार किया और शायद अन्तिम बार भी। नाम बदलने के मानी हैं कि विवाह के बाद मैं तुम्हारा पतिदेव हो जाऊँ।"

मैं बोली—"तो इसमें हानि ही क्या है ? मैं तो तुम्हें उनके जीवन-काल से ही पतिदेव माने बैठी हूँ। अब दुनिया को भी यदि इसका परिचय दे दिया जाय तो इसमें कौन-सा अनर्थ हो जायगा !"

'अनर्थ !' सतीश ने बहुत ही दुःख भरे स्वर में कहा—"अनुराधा, मैं अपनी माँ का स्मरण करता हूँ तो छाती फटती है। वह निश्चय ही आत्मघात कर लेगी। इस आघात को पिताजी हँसकर सह लेंगे, किन्तु मेरी माँ नहीं सह सकेगी। इतनी ही सी चिन्ता मुझे सताया करती है।"

मैं झुँझलाकर बोली—"तो आज तुम मुझे अन्तिम उत्तर दे रहे हो।

तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता । इतना बड़ा आघात मैं सह नहीं सकता, चाहे दुनिया उलट जाय ।"

मैं उस सनकी नवयुवक को क्या कहकर समझाती ? धीरे-धीरे मेरा मन भी उससे ऊब रहा था । अब उसके साथ में रहते हुए मैं किसी प्रकार की भी सनसनी का अनुभव नहीं करती थी और उसकी प्रत्येक नूतनता समाप्त हो चुकी थी । मैं उसका त्याग करना भी नहीं चाहती थी और साथ रहना भी मुझे उतना उत्साहवर्द्धक नहीं जान पड़ता था जितना पहले-पहल मैं अनुभव करती थी । मैं अपने मन के इस परिवर्तन को रोकना चाहती थी; किन्तु जिसे तेज मिर्च खाने की आदत होती है, उसे मिर्च-मसाले रहित भोजन यदि खिलाया जाय तो उसका पेट तो भर जायगा, पर मन नहीं भरेगा । पेट भर जाना ही सब कुछ नहीं है, मन भरना ही आत्म-तृप्ति है । सतीश अब मेरे लिये उपयोगी रह गया था—आनन्ददायक नहीं, यह मैं स्वीकार करती हूँ ।

मैं चुपचाप सोचती रही तो सतीश मेरी बाँह पकड़कर झकझोरता हुआ बोला—"बोलती क्यों नहीं ? आखिर तुमने भी मेरा बलिदान···।"

मैं बोली—"छिः ! छिः ! यह क्या बोलते हो ? धर्म और समाज को लात मारकर मैंने तुम्हें प्राप्त किया । कितना मूल्य देना पड़ा मुझे तुम्हारे लिये ! तुम्हें मेरे लिये क्या त्याग करना पड़ा ? आज मैं माता-पिता सबका त्याग करके तुम्हारा नेह निबाह रही हूँ; किन्तु तुम तो सबका साथ दे रहे हो ।"

मैंने रुककर अपने कथन के प्रभाव को देखने का प्रयत्न किया । सतीश की आँखों में जल की बूँदें देखकर मेरा मन तनिक पसीजा,

मैंने कहा—"क्यो नहीं संभव है ? मैं तुम्हारी पत्नी तो हूँ नहीं। हमारा सम्बन्ध स्नेह का है और विवाह का सम्बन्ध धर्म का होता है। स्नेह और धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनो के दो रास्ते होते हैं।"

सतीश सोच-विचार में पड़ गया। वह जब रात को फिर मेरे कमरे में आया तो मैंने उसे बहुत ही उलझन मे पड़ा हुआ देखा। वह खाट पर बैठ गया और बोला—"अनुराधा !"

मैं बोली—"तुम्हारा मन बहुत ही अशान्त लगता है। आखिर तुम दिन भर कहाँ रहे ! मै तो समझती हूँ कि तुम्हें इस तरह अशान्त नही रहना चाहिए। वह निरीह की तरह बोला—"तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु दिमाग काम नही करता है। मैं विवाह करना नहीं चाहता और तुम्हारा विचार है कि मैं दो समान आकर्षणो के बीच मे पड़कर दो टुकड़े हो जाऊँ।"

मैंने कहा—"यह तुम्हारी भूल है सतीश बाबू ! मानव जहाँ भी रहता है सम्पूर्ण रहता है। अपने पति के जीवन-काल में मैं तुम्हारे पास भी सम्पूर्ण थी और उनके पास भी। तुम भी जहाँ रहोगे सम्पूर्ण ही रहोगे। यदि तुम विवाह नहीं करते तो परिणाम यह होगा कि तुम्हें अपने माता-पिता का त्याग करना होगा और शायद झगड़ा इतना बढ़े कि मेरा त्याग भी कर देने को तुम्हे बाध्य होना पड़े ; इसस भी भयंकर परिणाम निकल सकता है। अब तुम चुपचाप विवाह कर लो और औरों की तरह गृहस्थी बसाते हुए मेरा साथ भी दो। तुम अगले साल वकील हो जाओगे तो शहर में रहकर ही तो अपना पेशा चलाना होगा। यहीं रहना और······।"

सतीश भावुकता के झोके में आकर बोला—"यह नहीं होगा रानी ! मैंने निश्चय कर लिया है कि संसार का त्याग करूँगा; किन्तु

तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता । इतना बड़ा आघात मैं सह नहीं सकता, चाहे दुनिया उलट जाय।"

मैं उस सनकी नवयुवक को क्या कहकर समझाती ? धीरे-धीरे मेरा मन भी उससे ऊब रहा था। अब उसके साथ में रहते हुए मैं किसी प्रकार की भी सनसनी का अनुभव नहीं करती थी और उसकी प्रत्येक नूतनता समाप्त हो चुकी थी। मैं उसका त्याग करना भी नहीं चाहती थी और साथ रहना भी मुझे उतना उत्साहवर्द्धक नहीं जान पड़ता था जितना पहले-पहल मैं अनुभव करती थी। मैं अपने मन के इस परिवर्तन को रोकना चाहती थी; किन्तु जिसे तेज मिर्च खाने की आदत होती है, उसे मिर्च-मसाले-रहित भोजन यदि खिलाया जाय तो उसका पेट तो भर जायगा, पर मन नहीं भरेगा। पेट भर जाना ही सब कुछ नहीं है, मन भरना ही आत्म-तृप्ति है। सतीश अब मेरे लिये उपयोगी रह गया था—आनन्ददायक नहीं, यह मैं स्वीकार करती हूँ।

मैं चुपचाप सोचती रही तो सतीश मेरी बाँह पकड़कर झकझोरता हुआ बोला—"बोलती क्यों नहीं ? आखिर तुमने भी मेरा बलिदान•••।"

मैं बोली—"छिः! छिः! यह क्या बोलते हो ? धर्म और समाज को लात मारकर मैंने तुम्हें प्राप्त किया। कितना मूल्य देना पड़ा मुझे तुम्हारे लिये! तुम्हें मेरे लिये क्या त्याग करना पड़ा ? आज मैं माता-पिता सबका त्याग करके तुम्हारा नेह निबाह रही हूँ; किन्तु तुम तो सबका साथ दे रहे हो।"

मैंने रुककर अपने कथन के प्रभाव को देखने का प्रयत्न किया। सतीश की आँखों में जल की बूँदें देखकर मेरा मन तनिक पसीजा,

मैंने कहा—"क्यों नहीं संभव है ? मैं तुम्हारी पत्नी तो हूँ नहीं। हमारा सम्बन्ध स्नेह का है और विवाह का सम्बन्ध धर्म का होता है। स्नेह और धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों के दो रास्ते होते हैं।"

सतीश सोच-विचार में पड़ गया। वह जब रात को फिर मेरे कमरे में आया तो मैंने उसे बहुत ही उलझन में पड़ा हुआ देखा। वह खाट पर बैठ गया और बोला—"अनुराधा !"

मैं बोली—"तुम्हारा मन बहुत ही अशान्त लगता है। आखिर तुम दिन भर कहाँ रहे ? मैं तो समझती हूँ कि तुम्हें इस तरह अशान्त नहीं रहना चाहिए। वह निरीह की तरह बोला—"तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु दिमाग काम नहीं करता है। मैं विवाह करना नहीं चाहता और तुम्हारा विचार है कि मैं दो समान आकर्षणों के बीच में पड़कर दो टुकड़े हो जाऊँ।"

मैंने कहा—"यह तुम्हारी भूल है सतीश बाबू ! मानव जहाँ भी रहता है सम्पूर्ण रहता है। अपने पति के जीवन-काल में मैं तुम्हारे पास भी सम्पूर्ण थी और उनके पास भी। तुम भी जहाँ रहोगे सम्पूर्ण ही रहोगे। यदि तुम विवाह नहीं करते तो परिणाम यह होगा कि तुम्हें अपने माता-पिता का त्याग करना होगा और शायद झगड़ा इतना बढ़े कि मेरा त्याग भी कर देने को तुम्हें बाध्य होना पड़े ; इससे भी भयंकर परिणाम निकल सकता है। अब तुम चुपचाप विवाह कर लो और औरों की तरह गृहस्थी बसाते हुए मेरा साथ भी दो। तुम अगले साल वकील हो जाओगे तो शहर में रहकर ही तो अपना पेशा चलाना होगा। यहीं रहना और...... ।"

सतीश भावुकता के झोंके में आकर बोला—"यह नहीं होगा रानी ! मैंने निश्चय कर लिया है कि संसार का त्याग करूँगा; किन्तु

तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता । इतना बड़ा आघात मैं सह नहीं सकता, चाहे दुनिया उलट जाय ।"

मैं उस सनकी नवयुवक को क्या कहकर समझाती ! धीरे-धीरे मेरा मन भी उससे ऊब रहा था। अब उसके साथ में रहते हुए में किसी प्रकार की भी सनसनी का अनुभव नहीं करती थी और उसकी प्रत्येक नूतनता समाप्त हो चुकी थी। मैं उसका त्याग करना भी नहीं चाहती थी और साथ रहना भी मुझे उतना उत्साहवर्द्धक नहीं जान पड़ता था जितना पहले-पहल मैं अनुभव करती थी। मैं अपने मन के इस परिवर्तन को रोकना चाहती थी; किन्तु जिसे तेज मिर्च खाने की आदत होती है, उसे मिर्च-मसाले रहित भोजन यदि खिलाया जाय तो उसका पेट तो भर जायगा, पर मन नहीं भरेगा । पेट भर जाना ही सब कुछ नहीं है, मन भरना ही आत्म-तृप्ति है। सतीश अब मेरे लिये उपयोगी रह गया था—आनन्ददायक नहीं, यह मैं स्वीकार करती हूँ।

मैं चुपचाप सोचती रही तो सतीश मेरी बाँह पकड़कर झकझोरता हुआ बोला—"बोलती क्यों नहीं ! आखिर तुमने भी मेरा बलिदान...।"

मैं बोली—"छिः ! छिः ! यह क्या बोलते हो ! धर्म और समाज को लात मारकर मैंने तुम्हें प्राप्त किया। कितना मूल्य देना पड़ा मुझे तुम्हारे लिये ! तुम्हें मेरे लिये क्या त्याग करना पड़ा ! आज मैं माता-पिता सबका त्याग करके तुम्हारा नेह निबाह रही हूँ; किन्तु तुम तो सबका साथ दे रहे हो ।"

मैंने रुककर अपने कथन के प्रभाव को देखने का प्रयत्न किया। सतीश की आँखों में जल की बूँदें देखकर मेरा मन तनिक पसीजा,

किन्तु मैंने अपने को इस तरह द्रवित होने से रोका। मैं इस संसार में अकेली हूँ और चाहती हूँ कि जीवन के शेष दिनों को अपने ढंग से व्यतीत करूँ। दूर के नाते-रिश्तेदार पहले तो दल बाँधकर आते-जाते रहे, किन्तु मैंने उन्हें टका-सा जवाब देकर अपना पिंड छुड़ाया। मेरी सम्पत्ति और जवानी आकर्षण का केन्द्र बनी हुई था, साथ ही मेरा विधवापन भी समझदारों के मन को उकसाया करता था। विधवाश्रमवाले और अनाथालयवाले चंदा-बही लेकर जब काफी दौड़ लगा चुके तो मुझे विश्राम मिला। यद्यपि सतीश की और मेरी उम्र करीब-करीब बराबर ही कही जा सकती है, किन्तु मैं उसे इस मामले में निरा छोकरा ही समझती हूँ। वह जब एक मातृहीन बच्चे की तरह रोने का उपक्रम करने लगा, तो मैं मन-ही-मन हँसी। सच्ची बात तो यह है कि रोने तथा विलाप करनेवाले पुरुष को मैं घृणा से देखती हूँ। पुरुष का पौरुष आँसुओं के रूप में फूट पड़े, यह शायद ही कोई स्त्री पसन्द करे। कड़ा शासन और कड़ा अनुशासन उन स्त्रियों के लिये प्रिय होता है, जो नई नवेली न होकर, दुनिया को समझानेवाली होती हैं। सतीश कुछ देर तो अपनी भींगी पलकों को नीचे झुकाये रहा, फिर निरीह भाव से बोला—"तो तुम्हारी सम्मति यही है कि मैं विवाह कर लूँ।"

मैंने उसकी पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"बहादुर हो······ हिम्मत न हारो। मैं कहीं भागी तो नहीं जाती जो पागल की तरह रो रहे हो। अब तो मैं सदा के लिये तुम्हारी हो चुकी, किन्तु माँ का मन न रखना अपराध है।"

आखिर सतीश मान गया, किन्तु वह रह-रहकर विवाह करने से मुकर जाता था। ठीक समय पर उसके पिता आये और अपनी

ओर से बहुत-सा सामान देकर मैंने सतीश को विदा किया। वह जाने के दो दिन पहले तक विक्षिप्त की तरह खाना-पीना त्यागकर यही कहता रहा—"तुम मुझे धोखा तो नहीं देना चाहती ?"

हाय, मैं किस तरह अभागे को समझाती ! धोखा देना तो मैं किसी को भी नहीं चाहती; क्योंकि दुनिया का सब से बड़ा धोखा अपने पति को दे चुकी हूँ। उतना बड़ा धोखा दे देने के बाद अब छोटा-मोटा धोखा देना मैं छिछोरापन समझने लगी हूँ। एक बहादुर डाकू जूते चुराने की लालसा नहीं रखता।

सतीश गया और दो सप्ताह के बाद विवाह करके लौट आया। वह विशेष प्रसन्न नहीं था, किन्तु मैंने देखा कि उसमें लापरवाही-सी आ गयी है। उसकी लापरवाही मुझे रह-रहकर अखरने लगी और मन के किसी कोने से डाह की तरह की कोई चीज भी यदा-कदा झलकने लगी। मैं अपने को दुत्कारती, किन्तु फिर भी स्त्री-स्वभाव ! मन-ही-मन पछताने भी लगती। यों तो सतीश से मैं कुछ-कुछ ऊब-सी गई थी; किन्तु उसका त्याग भी मेरे लिये जहर की घूँट था।

मैंने सतीश से पूछा—"बहू कैसी है बाबू ?"

वह बोला—"ठीक तुम्हारी ही तरह।"

मैंने कहा—"यह कैसे संभव हो सकता है ! वह नई-नवेली होगी लज्जावती लता की तरह और मैं हूँ झुलसी हुई वह अभागी लता, जिसे कोई भी आँखें भरकर देखना भी पसन्द नहीं करता।"

सतीश बोला—"मैं तुम्हें रूप और गुण की सीमा मानता हूँ। जो स्त्री मुझे पसन्द आयेगी, उसकी उपमा मैं तुमसे ही दूँगा।"

मैंने लजाने का प्रयत्न किया; किन्तु आदत न रहने के कारण लजाते न बना। [illegible]

विभाकुमारी

१३

ट्रेन हवा की तरह उड़ती चली जा रही थी और मैं चुपचाप बैठी खिड़की के बाहर की ओर देखने का प्रयत्न कर रही थी। शीशे की बन्द खिड़की के बाहर अन्धकार था और गाड़ी भीतर स्वच्छ प्रकाश। शीशे से बाहर की ओर देखने का जब मैं प्रयत्न करती तो मुझे उस पर अपना ही चेहरा नजर आता जिसे देखना मैं कभी भी पसन्द नहीं करती थी। मैंने अनुभव किया कि मानव जितना अपने आप से डरता है उतना काल से भी नहीं डरता। हम अपने को देखना नहीं चाहते; क्योंकि जब हम अपने को देखने लगते हैं तो अपना वह रूप सामने आ जाता है जिसे हम संसार से छिपाये रहते हैं और किसी को भी देखने नहीं देते, यहाँ तक कि अपने आप को भी नहीं। जब-जब शीशे की ओर मैं देखती मुझे अपना ही चेहरा दिखाई पड़ता।

ऊबकर मैंने तख्ते को ऊपर उठाया और दूसरी ओर देखकर मन बहलाने की चेष्टा करने लगी।

दूसरे बर्थ पर एक नवयुवक अपनी नवयुवती जीवनसहचरी के साथ बैठा था। नवयुवती ऊँघने लगी और जानते या अनजानते अपने सुन्दर पति के कन्धों पर सिर टिकाकर एक प्रकार से सो रही। नवयुवक भी ऊँघ रहा था। उसने धीरे से अपनी रानी को सचेत किया और फिर खिसककर उसके सोने का स्थान बना दिया। वह लज्जावती एक बार तिरछी आँखों से पति को देखकर सोते से उठ गई। उसके पति ने धीरे से सोने का आग्रह किया तो उसने फिर इनकार कर दिया। यह दृश्य भी मेरे लिये असहनीय था। एक मैं थी जो अपने पति से विताड़ित होकर अनन्त की ओर जा रही थी और एक वह जोड़ी थी जो अपनी खूबसूरत उपस्थिति से सारी गाड़ी को जीवन प्रदान कर रही थी। मैंने समझा, यह भी विधि-विडम्बना ही है जो कहीं भी मुझे शान्ति नहीं लेने देती।

इसी डब्बे के एक छोर पर एक विशालकाय सेठ जी थे जो नींद की खुमारी के मजे लूट रहे थे और शायद अपने बैंकबैलेन्स का सपना देख रहे थे। मेरे पास एक ही गरम चादर थी और कुछ भी न था। सर्दी बहुत तेज पड़ रही थी। एक स्टेशन पर अचानक गाड़ी रुकी और मैंने बहुत ही चकित होकर देखा, सतीश लम्बा ओभर कोट पहने भीतर आ रहा है। सतीश को देखते ही पहले तो भय से घबराई; किन्तु फिर तो मुझे ऐसा लगा कि डूबते को तिनके का नहीं नौके का सहारा मिल गया। एकाएक इस रूप में सतीश मुझे देखते ही ठिठक-कर खड़ा हो गया; किन्तु अपने को स्वस्थ करके चीख उठा—"विभा!...तुम...इस तरह...यह सपना तो नहीं...है ?!"

न जाने क्यों मेरा हृदय उमड़ आया और मैं रो उठी। सतीश बहुत ही घबराकर मेरे निकट आया और बोला—"साथ में और कोई है···तुम कहाँ जा रही हो ?"

मैं बोली—"पहले बैठो तो फिर अपनी राम कहानी सुनाऊँगी। अकेली नहीं हूँ, मेरे साथ मेरी विपदा है और······।"

सतीश का चेहरा फक् हो गया। वह बड़बड़ाया—"विपदा!··· विपदा !······उफ्······!" कुली के सिर पर से सामान उतार कर सतीश ने कहा—" उठो तो विस्तर लगा दूँ। तुम्हारे पास तो सामान भी नहीं है······ हे भगवन् !"

मैं उठ खड़ी हुई और उसने अपना कीमती और गरम विस्तर वर्थ की इस छोर से उस छोर तक फैला दिया। फिर, एक गरम कम्बल मेरी ओर बढ़ाता हुआ बोला—"अब आराम से बैठकर अपनी कष्ट-कहानी सुनाओ। बड़ी सर्दी है !"इतना बोलकर उसने अपनी भरी हुई गोरी-गोरी कलाई को घुमाकर सोने की चमचमाती हुई घड़ी पर एक नजर डालते हुए कहा—"अभी तो दो ही बजे हैं।" वह बर्थ के अन्तिम छोर पर बैठ गया तो मैंने देखा कि वह स्त्री जो अपने सुन्दर पति को गर्व से रह-रहकर देखा करती थी, अनिमेष दृष्टि से सतीश को देख रही है। मेरा मन एक अव्यक्त आनन्द से भर गया। कोई भी युवती दूसरी युवती का इस मामले में गर्व खर्व होते देखकर पुलकित होती है। यह तो स्त्री स्वभाव का एक गुप्त रहस्य है।

मैंने सतीश को अंग्रेजी में अपनी कहानी सुनाई जिसे सुनकर वह इतना व्यग्र हुआ कि उठकर खड़ा हो गया। वह बोला—"तो तुमने घर का त्याग कर दिया। अब कहाँ जा रही हो·······अपने पितृगृह या और कहीं !"

मैं बोली—"जहाँ यह गाड़ी ले जाय।"

वह बोला—"टिकट तो लिया ही होगा।"

"मेरे इनकार करने पर उसने अपना पाकट टटोलकर कहा—"चिन्ता नहीं, मेरा टिकट तुम्हारे काम आ जायगा। मैं टिकट बनवा लूँगा।"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया तो वह बोला—"यह तुमने बुरा किया विभा! तुम जानती हो, स्त्रियों का भाग्य कच्चे घड़े की तरह तुनुक होता है। जरा सा आघात लगा न कि उसके हजार टुकड़े हो जाते हैं। तुम्हें अपने जीवन से खेल जाने का कोई अधिकार न था। अब तो सुगन्ध फूल से बाहर हो गई, वह फिर सिमटकर फूल में नहीं घुस सकती।"

मैं अपनी उमड़ती हुई रुलाई को जब नहीं रोक सकी तो सतीश कहने लगा—"अब तुम अपने घर चलो और फिर आगे की योजना बनाओ। मैं तो यही कहूँगा कि परिस्थिति की गम्भीरता का तुम अनुभव करो और अनुभव करो अपने वंशगौरव को।"

मैं बोली—"मैं वंशगौरव पर धब्बा आने नहीं दूँगी सतीश; किन्तु जो कुछ मैंने किया है वह सोच समझ कर ही—क्षणिक उत्तेजना से पगली होकर नहीं। मैं तुम्हारा आदेश पालन करूँगी; किन्तु आदेश देते समय अपनी सहृदयता का ध्यान रखना। शासक की तरह कानून को ही सामने मत रखना।"

सतीश बोला—"ईश्वर हमें सत्य का प्रकाश दे!"

देखते-देखते रात समाप्त हो गई। अभी दूर जाना था और मेल ट्रेन पूरा बल लगाकर आँधी की तरह दौड़ रही थी। सतीश अपने घर से फिर शहर की ओर लौट रहा था। बातों-ही-बातों में

उसने अपना हाल सुनाया। अनुराधा की चर्चा मैं सुन चुकी थी; अतः मैंने चकित होकर उससे पूछा—"आखिर अनुराधा के भाव इस तरह क्यों बदल रहे हैं? वह तो एक प्रकार से अनाथा हो चुकी है। यदि वह रुपयों को ही सब कुछ समझती है तो मेरी धारणा गलत है।"

सतीश कहने लगा—"अनुराधा तीन-तीन महारोगों से पीड़ित है। यौवन तो है ही, धन और स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ वह बहुत ही कूटनीतिज्ञ स्त्री है। जब उसकी बुद्धि के कई टुकड़े हो जाते हैं तो वह बहुत ही अनर्थ पैदा करनेवाली होजाती है।"

मैं चुप लगाकर सोचने लगी। सतीश का कहना ठीक जँचता था। मैंने फिर पूछा—"क्या अनुराधा अपनी चंचलता को स्वयम् समझती है? तुमने उसे कभी उसके इस दोष को उसके सामने प्रकट क्यों नहीं किया?"

सतीश उदास स्वर में बोला—"वह सब कुछ जानती है और समझती है; किन्तु वह अपने आप को संयत रख ही नहीं सकती। उसका उपद्रवी मन बहुत ही शोख है और जब से उसके पति का अन्त हुआ और बहुत-सी सम्पत्ति उसके अधिकार में अनायास ही चली आयी, उसका माथा फिर गया। उसने अपने को खो दिया और वह दिन दूर नहीं है जब वह सारी दुनिया को गँवाकर नष्ट हो जायगी।"

मैं घबराकर बोली—"क्या मैं उससे मुलाकात कर सकती हूँ? इस बार तुम मुझे उससे मिलने का अवसर प्रदान करना।"

सतीश ने स्वीकृति दी और मैं अनुराधा की बातें सोचने लगी। अब गाड़ी शहर के विशाल स्टेशन के निकट पहुँच रही थी और बिजली की बत्तियों के अनगिनत प्रकाश तथा लाइनों का जाल हम देख रहे थे। सिगनलों की बहुलता भी हमारे सामने थी। कुछ ही

क्षण में गाड़ी ने स्टेशन में प्रवेश किया और वह प्लेटफार्म पर दौड़ने-लगी। कुलियों का दल भी साथ-ही-साथ दौड़ने लगा और दो यात्री गाड़ी की प्रतीक्षा में बैठे थे वे भी भड़भड़ा कर उठ खड़े हुए। सीटी बजाती हुई गाड़ी कुछ क्षण तक प्लेटफार्म पर दौड़कर खड़ी हो गई। हम उतर भी न पाये थे कि बाहर की भीड़ भीतर घुसने के लिये धक्कमधक्का करती हुई भीतर आने लगी। प्लेटफार्म पर उतरते ही मेरा हृदय धड़क उठा; किन्तु सतीश का सहारा मेरे लिये भगवान का सहारा था।

जब मैं अपने घर के दरवाजे पर पहुँची तो सब से पहिले हमारे यहाँ का पुराना दरवान मिला। उसने जब मुझे बिना किसी तरह के सामान का देखा तो उसकी आँखें विस्मय से विस्फारित हो गईं। सतीश तो उसी टैक्सी से अनुराधा के यहाँ चलता बना और उसी की शाल ओढ़े मैं अपने घर के भीतर घुसी। सतीश की शाल से जो मंहक आ रही थी वह सतीश के शरीर की थी। वह मंहक मुझे बहुत ही विकल कर रही थी। उस उत्तेजक मंहक को मैं इतना पसन्द करने लगी थी कि यदि सतीश मुझसे शाल माँग लेता तो निश्चय ही मुझे अपार कष्ट होता। वह शाल कीमती थी और उसे लौटाना ही था।

माँ ने मुझे देखकर छूटते ही पूछा—"तू इस तरह कैसे आई? तेरे साथ वह कौन था जो तुझे मोटर से उतारकर चलता बना?"

मैं असमंजस में पड़ गई। न जाने क्यों सतीश का नाम मेरे मुँह से नहीं निकला और मैं झूठ बोलने की चेष्टा करने लगी। मैंने माँ से कहा—"अभी तो मुझे आराम चाहिये। सारी कहानी मैं फिर सुनाऊँगी।"

माँ की अनुभवी आँखें संदेह में डूबी हुई थीं। मैं उन आँखों के

उसने अपना हाल सुनाया। अनुराधा की चर्चा मैं सुन चुकी थी; अतः मैंने चकित होकर उससे पूछा—"आखिर अनुराधा के भाव इस तरह क्यों बदल रहे हैं ? वह तो एक प्रकार से अनाथा हो चुकी है। यदि वह रुपयों को ही सब कुछ समझती है तो मेरी धारणा गलत है।"

सतीश कहने लगा—"अनुराधा तीन-तीन महारोगों से पीड़ित है। यौवन तो है ही, धन और स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ वह बहुत ही कूटनीतिज्ञ स्त्री है। जब उसकी बुद्धि के कई टुकड़े हो जाते हैं तो वह बहुत ही अनर्थ पैदा करनेवाली होजाती है।"

मैं चुप लगाकर सोचने लगी। सतीश का कहना ठीक जँचता था। मैंने फिर पूछा—"क्या अनुराधा अपनी चंचलता को स्वयम् समझती है ? तुमने उसे कभी उसके इस दोष को उसके सामने प्रकट क्यों नहीं किया ?"

सतीश उदास स्वर में बोला—"वह सब कुछ जानती है और समझती है; किन्तु वह अपने आप को संयत रख ही नहीं सकती। उसका उपद्रवी मन बहुत ही शोख है और जब से उसके पति का अन्त हुआ और बहुत-सी सम्पत्ति उसके अधिकार में अनायास ही चली आयी, उसका माथा फिर गया। उसने अपने को खो दिया और वह दिन दूर नहीं है जब वह सारी दुनिया को गँवाकर नष्ट हो जायगी।"

मैं घबराकर बोली—"क्या मैं उससे मुलाकात कर सकती हूँ ? इस बार तुम मुझे उससे मिलने का अवसर प्रदान करना।"

सतीश ने स्वीकृति दी और मैं अनुराधा की बातें सोचने लगी। अब गाड़ी शहर के विशाल स्टेशन के निकट पहुँच रही थी और बिजली की बत्तियों के अनगिनत प्रकाश तथा लाइनों का जाल हम देख रहे थे। सिगनलों की बहुलता भी हमारे सामने थी। कुछ ही

सामने ठहर नहीं सकी और अपने कमरे में जाकर लेट गई। माँ फिर आई और बोली—"तेरा सामान कहा है? विस्तर वगैरह कुछ भी नहीं। यह क्या तमाशा है! बोलती क्यों नहीं?"

मैं झुंझलाकर बोली—"इतना अधीर होना क्या अच्छा है माँ! मैं अभी कहीं भागी तो नहीं जा रही हूँ। सारी कहानी कहूँगी। अभी मुझे आराम चाहिये और शान्ति। दया करके मुझे कुछ देर सोने दो।"

माँ बेमन से बड़बड़ाती हुई चली गई; किन्तु उसका मन भीतर-ही-भीतर घोर तर्क-वितर्क कर रहा था, ऐसा ही मुझे अनुभव हुआ। किसी भी शंकाशील व्यक्ति का जोर लगाकर मुँह बन्द कर देने से, उसका बोलना भले ही बन्द हो जाय; किन्तु उसका मन तो तर्क-वितर्क करता ही रहेगा। मन का मुँह बन्द करना लाठी का काम नहीं है।

मैंने दूसरे दिन माँ को जब अपना सारा हाल सुनाया तो वह सिर पीटकर बोली—"अरी कुलच्छनी! यह तूने क्या किया?"

इतना बोलकर माँ ने काशीवास करने और जीवन भर मेरा मुँह न देखने की भीष्म-प्रतिज्ञा करके अपना वक्तव्य समाप्त किया। इसके बाद नित्य से दो घंटे अधिक पूजा और ध्यान करके उसने मानो अपने मन के अकथनीय भार को अपने पत्थर के भगवान पर पटककर त्राण पाया। मैं नित्य पुलिस या पतिदेव के किसी ऐसे दूत का भीत होकर राह देखती रही जो दाँत पीसता हुआ मेरे दरवाजे पर आकर ऊधम मचाने का नाट्य करे। यह समाचार जब भैया ने सुना तो उन्होंने बहुत ही शान्त भाव से अपना मत प्रकट किया—"यदि वह यहाँ आ जाय तो उसकी खाल उतार लेना ही सब से अच्छा स्वागत होगा।"

सतीश जब एक सप्ताह बाद आया तो हारा और थका हुआ था। उसका चेहरा उतरा हुआ था और वह बहुत ही हताश दिखलाई पड़ता था। मैंने उसे सदा प्रसन्न और पुलकित ही देखा था; किन्तु उस दिन उसका जो रूप मैंने देखा उससे मन को बड़ी व्यथा हुई। वह बोला—"विभा! क्या बतलाऊँ, अब तो जीवन ईंट का जलता हुआ पजावा बन चुका है जो भीतर-ही-भीतर पक रहा है। पता नहीं चलता अब क्या करूँ।"

मैंने पूछा—"यह कैसे हुआ?"

वह जीवन से निराश रोगी की तरह बोला—"अनुराधा अब वह अनुराधा नहीं रही। न जाने कहाँ से उसका एक रिश्तेदार आया है जो पक्का छत्तीसा जान पड़ता है। आज कल उस नालायक रिश्तेदार की ही वहाँ तूती बोला करती है और मैं तो मानो एक मैनेजर मात्र हूँ जिसका काम केवल आदेश पालन करना ही रह गया है।"

मैं बोली—"आखिर वह पाजी औरत तुम्हारी कौन है सतीश! उस कमीनी के पीछे तुम पड़े ही क्यों? घर जाओ और उसे जीवित नरक भोगने दो।"

"यह कैसे होगा विभा?"—सतीश सहसा उत्तेजित होकर कहने लगा—" अपने किये का फल तो चखाना ही पड़ेगा।"

मैं सिहर उठी और बोली—"खबरदार जो इस तरह की बात को तुमने मन में भी स्थान दिया। जो अपने पति की नहीं हुई वह संसार में किसी की भी नहीं हो सकती।"

सतीश मेरा मुँह देखकर चुप लगा गया! उसका इस तरह मुस्कराना मेरे लिये वज्रघात था। मैंने भी तो पति का त्याग कर दिया था। जो पाप मैंने स्वयम् किया था उसी पाप के लिये दूसरे को

धिक्कारने का मुझे क्या हक था। मैं मर्माहत और लज्जित हुई। सतीश फिर बोला—"तुम कितनी भली हो अनुराधा; किन्तु तुम्हें सोचना चाहिये कि विश्वासघाती को जीने का हक नहीं है। वह समाज के लिये एक भयानक खतरा है"

मैंने बोलने का प्रयत्न किया; किन्तु मैं इतना घबरा उठी थी कि मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल सका।

सतीश कहने लगा—"अनुराधा एक नागिन की तरह है और उसका जब तक सिर न कुचल दिया जाय मेरे मन को शान्ति नहीं मिल सकती।"

इस बार मैंने अपने को स्वस्थ करके कहा—"दया करो अपने ऊपर। एक नरक की पिशाची के चलते तुम अपने सोने के संसार को खाक में मिलाना चाहते हो। ऐसा न करो सतीश मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।"

मैंने भावावेग में आकर सतीश का हाथ पकड़ लिया; किन्तु फिर लज्जा से भीत होकर संभलकर अपनी जगह पर बैठ गई। सतीश का ध्यान इस ओर न था। वह आत्मविस्मृत-सा बैठा-बैठा न जाने क्या सोच रहा था।

उसने फिर कहा—"खैर, देखा जायगा। अब चला। वह आज सिनेमा देखने गई है। उसका वह नया रिश्तेदार बहुत ही उद्धत और शोख है। आते ही उसने हुकूमत शुरू कर दी। वह अनुराधा को दीदी कहता है; किन्तु उसके व्यवहार से तो यही पता चलता है कि वह उसकी दीदी नहीं है। जो हो, तुम्हारा कहना ठीक है। मैं भी ऊब उठा हूँ और मन भी घिना उठा है। यदि रहना ही पड़ा तो एक-न-एक दिन अनर्थ रक्खा हुआ है। देखा जायगा, कोई चिन्ता नहीं।"

मैं कुछ बोलना ही चाहती थी कि माँ ने आकर सूचना दी कि मेरे पतिदेव आकर बैठकखाने में बैठे हैं। मैं घबराकर अचानक उठ खड़ी हुई। भैया घर पर नहीं थे। मैं डर रही थी कि कहीं वे आते ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के उद्योग में न लग जायं।

मैंने माँ से पूछा—"भैया कहाँ है!"

वह बोली—"कहीं बाहर गया है। कैसे कह सकती हूँ कि वह कब लौटेगा।"

मैंने कहा—"माँ, भैया उन पर बहुत नाराज हैं। कहीं ऐसा न हो……।"

माँ भी तो आखिर एक स्त्री ही थी। उसने मेरे भाव को ठीक रूप में ग्रहण कर लिया; किन्तु अपने आप को छिपाकर कहा—"तो हर्ज ही क्या है बेटी! उसने तेरे साथ जैसा व्यवहार किया है उसका प्रतिफल तो प्रगट होना ही चाहिये।"

मैं विनय भरे स्वर में बोली—"माँ, उन्होंने अपनी गलती महसूस करके ही यहाँ तक आने का साहस किया है। क्या पैरों पड़ने से ही अपराध की स्वीकृति समझी जाती है!"

माँ कुछ बोली नहीं और जब चली गई तो मैंने सतीश से कहा—"तुम मेरा उपकार करो। वे कैसे भी हों, मेरे लिए देवता हैं। तुम उनके निकट जाकर बैठो। भैया उन पर बहुत ही बिगड़े हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें अपमानित होना पड़े। तुम्हारे रहते अनर्थ होने का भय नहीं है।"

सतीश उठा और जाकर बैठकखाने में बैठ गया। मैं नहीं कह सकती दोनों में कुछ बात भी हुई या नहीं। मैं घबड़ाते हुए हृदय से इधर-उधर घूमकर भैया के आने की राह देख रही थी। कुछ देर

बाद भैया के भारी जूतों की आवाज सीढ़ियों पर सुनाई पड़ी और फिर वे मेरे सामने आकर क्षण भर रुके। मैं अपराधिनी की तरह सिर झुकाये खड़ी रही। वे रुककर दाँत पीसते हुए लौटकर नीचे जब उतरे तो मैंने माँ से कहा—"माँ, देखती नहीं भैया क्रोध के मारे काँपते हुए आये और नीचे चले गये। तू उन्हें बुलाकर समझा, नहीं तो........।"

मेरा गला भर आया। माँ ने तत्काल भैया को बुलाया; किन्तु वे ऊपर नहीं आये। वाणविद्ध हरिणी की तरह छटपटाती हुई मैं इधर-उधर दौड़ने लगी। नीचे से आवाज आई। भैया का कठोर कंठ-स्वर सुनकर मैं भय से काँप रही थी। भैया ने अपनी स्वाभाविक गुर्राती हुई आवाज से पूछा—"आप मनुष्य हैं या पशु?"

यह सवाल कितना अपमानजनक और भयंकर था। दूसरी ओर से मौन उत्तर मिला तो भैया ने फिर क्रोध से तिलमिलाकर पूछा—"चुप रहने से काम नहीं चलेगा। आप को मेरे प्रश्न का उत्तर देना ही होगा नहीं तो हम दोनों में से एक व्यक्ति पोस्टमार्टम रूम में जायगा और दूसरा दफा ३०२ का अपराधी बनकर जेल।"

उन्होंने जवाब दिया—"आप शान्त होकर बातें कीजिये। मैं.....।"

भैया ने शायद पैर पटककर कहा—"शान्त क्या महाशय, मैं आपकी सारी नालायकी को जानता हूँ। यद्यपि मेरी बहन का मुँह बन्द है, किन्तु दुनिया के होठ सिले हुए नहीं हैं। आपकी धन सम्पत्ति जाय चूल्हे में। मैं यही जानना चाहता हूँ कि आप मनुष्य है या अधम पशु।"

उन्होंने बहुत ही शान्त स्वर में फिर कहा—"आप अकारण

मैं कुछ बोलना ही चाहती थी कि माँ ने आकर सूचना दी कि मेरे पतिदेव आकर बैठकखाने में बैठे हैं। मैं घबराकर अचानक उठ खड़ी हुई। भैया घर पर नहीं थे। मैं डर रही थी कि कहीं वे आते ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के उद्योग में न लग जायं।

मैंने माँ से पूछा—"भैया कहाँ है?"

वह बोली—"कहीं बाहर गया है। कैसे कह सकती हूँ कि वह कब लौटेगा।"

मैंने कहा—"माँ, भैया उन पर बहुत नाराज हैं। कहीं ऐसा न हो……।"

माँ भी तो आखिर एक स्त्री ही थी। उसने मेरे भाव को ठीक रूप में ग्रहण कर लिया; किन्तु अपने आप को छिपाकर कहा—"तो हर्ज ही क्या है बेटी! उसने तेरे साथ जैसा व्यवहार किया है उसका प्रतिफल तो प्रगट होना ही चाहिये।"

मैं विनय भरे स्वर में बोली—"माँ, उन्होंने अपनी गलती महसूस करके ही यहाँ तक आने का साहस किया है। क्या पैरों पड़ने से ही अपराध की स्वीकृति समझी जाती है?"

माँ कुछ बोली नहीं और जब चली गई तो मैंने सतीश से कहा—"तुम मेरा उपकार करो। वे कैसे भी हों, मेरे लिए देवता हैं। तुम उनके निकट जाकर बैठो। भैया उन पर बहुत ही बिगड़े हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें अपमानित होना पड़े। तुम्हारे रहते अनर्थ होने का भय नहीं है।"

सतीश उठा और जाकर बैठकखाने में बैठ गया। मैं नहीं कह सकती दोनों में कुछ बात भी हुई या नहीं। मैं धड़कते हुए हृदय से इधर-उधर घूमकर भैया के आने की राह देख रही थी। कुछ देर

बाद भैया के भारी जूतों की आवाज सीढ़ियों पर सुनाई पड़ी और फिर वे मेरे सामने आकर क्षण भर रुके। मैं अपराधिनी की तरह सिर झुकाये खड़ी रही। वे रुककर दाँत पीसते हुए लौटकर नीचे जब उतरे तो मैंने माँ से कहा—"माँ, देखती नहीं भैया क्रोध के मारे काँपते हुए आये और नीचे चले गये। तू उन्हें बुलाकर समझा, नहीं तो·········।"

मेरा गला भर आया। माँ ने तत्काल भैया को बुलाया; किन्तु वे ऊपर नहीं आये। बाणविद्ध हरिणी की तरह छटपटाती हुई मैं इधर-उधर दौड़ने लगी। नीचे से आवाज आई। भैया का कठोर कंठ-स्वर सुनकर मैं भय से काँप रही थी। भैया ने अपनी स्वाभाविक गुर्राती हुई आवाज से पूछा—"आप मनुष्य हैं या पशु?"

यह सवाल कितना अपमानजनक और भयंकर था। दूसरी ओर से मौन उत्तर मिला तो भैया ने फिर क्रोध से तिलमिलाकर पूछा—"चुप रहने से काम नहीं चलेगा। आप को मेरे प्रश्न का उत्तर देना ही होगा नहीं तो हम दोनों में से एक व्यक्ति पोस्टमार्टम रूम में जायगा और दूसरा दफा ३०२ का अपराधी बनकर जेल।"

उन्होंने जवाब दिया—"आप शान्त होकर बातें कीजिये। मैं·····।"

भैया ने शायद पैर पटककर कहा—"शान्त क्या महाशय, मैं आपकी सारी नालायकी को जानता हूँ। यद्यपि मेरी बहन का मुँह बन्द है, किन्तु दुनिया के होठ सिले हुए नहीं हैं। आपकी धन सम्पत्ति जाय चूल्हे में। मैं यही जानना चाहता हूँ कि आप मनुष्य है या अधम पशु।"

उन्होंने बहुत ही शान्त स्वर में फिर कहा—"आप अकारण

मैं कुछ बोलना ही चाहती थी कि माँ ने आकर सूचना दी कि मेरे पतिदेव आकर बैठकखाने में बैठे हैं। मैं घबराकर अचानक उठ खड़ी हुई। भैया घर पर नहीं थे। मैं डर रही थी कि कहीं वे आते ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के उद्योग में न लग जायं।

मैंने माँ से पूछा—"भैया कहाँ है ?"

वह बोली—"कहीं बाहर गया है। कैसे कह सकती हूँ कि वह कब लौटेगा।"

मैंने कहा—"माँ, भैया उन पर बहुत नाराज हैं। कहीं ऐसा न हो······।"

माँ भी तो आखिर एक स्त्री ही थी। उसने मेरे भाव को ठीक रूप में ग्रहण कर लिया; किन्तु अपने आप को छिपाकर कहा—"तो हर्ज ही क्या है बेटी ! उसने तेरे साथ जैसा व्यवहार किया है उसका प्रतिफल तो प्रगट होना ही चाहिये।"

मैं विनय भरे स्वर में बोली—"माँ, उन्होंने अपनी गलती महसूस करके ही यहाँ तक आने का साहस किया है। क्या पैरों पड़ने से ही अपराध की स्वीकृति समझी जाती है ?"

माँ कुछ बोली नहीं और जब चली गई तो मैंने सतीश से कहा—"तुम मेरा उपकार करो। वे कैसे भी हों, मेरे लिए देवता हैं। तुम उनके निकट जाकर बैठो। भैया उन पर बहुत ही बिगड़े हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें अपमानित होना पड़े। तुम्हारे रहते अनर्थ होने का भय नहीं है।"

सतीश उठा और जाकर बैठकखाने में बैठ गया। मैं नहीं कह सकती दोनों में कुछ बात भी हुई या नहीं। मैं घबड़ाते हुए हृदय से इधर-उधर घूमकर भैया के आने की राह देख रही थी। कुछ देर

बाद भैया के भारी जूतों की आवाज सीढ़ियों पर सुनाई पड़ी और फिर वे मेरे सामने आकर क्षण भर रुके। मैं अपराधिनी की तरह सिर झुकाये खड़ी रही। वे रुककर दाँत पीसते हुए लौटकर नीचे जब उतरे तो मैंने माँ से कहा—"माँ, देखती नहीं भैया क्रोध के मारे काँपते हुए आये और नीचे चले गये। तू उन्हें बुलाकर समझा, नहीं तो........।"

मेरा गला भर आया। माँ ने तत्काल भैया को बुलाया; किन्तु वे ऊपर नहीं आये। वाणविद्ध हरिणी की तरह छटपटाती हुई मैं इधर-उधर दौड़ने लगी। नीचे से आवाज आई। भैया का कठोर कंठ-स्वर सुनकर मैं भय से काँप रही थी। भैया ने अपनी स्वाभाविक गुर्राती हुई आवाज से पूछा—"आप मनुष्य हैं या पशु?"

यह सवाल कितना अपमानजनक और भयंकर था। दूसरी ओर से मौन उत्तर मिला तो भैया ने फिर क्रोध से तिलमिलाकर पूछा—"चुप रहने से काम नहीं चलेगा। आप को मेरे प्रश्न का उत्तर देना ही होगा नहीं तो हम दोनों में से एक व्यक्ति पोस्टमार्टम रूम में जायगा और दूसरा दफा ३०२ का अपराधी बनकर जेल।"

उन्होंने जवाब दिया—"आप शान्त होकर बातें कीजिये। मैं.....।"

भैया ने शायद पैर पटककर कहा—"शान्त क्या महाशय, मैं आपकी सारी नालायकी को जानता हूँ। यद्यपि मेरी बहन का मुँह बन्द है, किन्तु दुनिया के होठ सिले हुए नहीं हैं। आपकी धन सम्पत्ति जाय चूल्हे में। मैं यही जानना चाहता हूं कि आप मनुष्य है या अधम पशु।"

उन्होंने बहुत ही शान्त स्वर में फिर कहा—"आप अकारण

उग्र हो रहे हैं भाई साहब! मैं क्षमा याचना करने आया हूँ। मुझे खाली हाथ न लौटाइये।"

भैया गरजकर कहने लगे—"यह क्षमायाचना भी शैतानों का ढोंग है। मैं तो अन्तिम निबटारा चाहता हूँ। मेरी बहन का विवाह आप से हुआ है और आप उसके सब कुछ हैं; किन्तु जब आपने एक अबला के जीवन को भार बना डाला है तो मेरा धर्म है कि मैं आपके जीवन को भार बना डालूँ।"

मैं रोती हुई माँ का हाथ पकड़कर बोली—"माँ, क्या यहाँ खूनखराबी होने देना तुम्हें पसन्द है? भैया को बुला ले नहीं तो मैं ही नीचे जाती हूँ।"

माँ ने भैया को फिर बुला पठाया; किन्तु उन्होंने बुलानेवाले छोकरे नौकर को एक तमाचा ऐसा खींचकर मारा कि वह चक्कर खाकर फर्श पर बैठ गया। मैं चीख उठी और जब नीचे उतरने के लिये दौड़ी तो माँ ने मुझे पकड़ लिया और वह स्वयम् घड़घड़ाती हुई नीचे चली गई।

माँ के नीचे जाते ही भैया का कंठ-स्वर सहसा नरम हो गया। उन्होंने माँ से कहा—"तू क्यों दौड़ी आई? यहाँ क्या कोई महाभारत हो रहा है?"

माँ ने कहा—"घर में घर के देवता आये हैं। यह देवता के स्वागत का विधान नहीं है। आते ही तू ने दंगा-फसाद खड़ा कर दिया। चल ऊपर...चल, जल्दी कर।"

भैया ने कोई जवाब नहीं दिया तो मेरे पति ने मेरी माँ को प्रणाम करके कहा—"माँ, भाई साहब तो अकारण मेरा खून करने पर उतारू

हो गये। वस्तुस्थिति का ज्ञान तो है नहीं। रात-दिन किताबों से उलझे रहते हैं।"

भैया ने फिर गरम होकर कहा—"और आप क्या भागवत का पाठ किया करते हैं जनाव! माँ तू जा यहाँ से फिर मैं इनसे बातें करूँ। ये देवता सहज में मानने वाले नहीं हैं। आज मैं अपनी जान देकर इन्हें वह शिक्षा दूँगा कि दुनिया देखेगी।"

मेरे पति ने हँसकर कहा—"अरे भाई साहब, जान देने के पहिले इस पत्र को तो पढ़ लीजिये फिर तलवार-बन्दूक लाइयेगा।"

मैं घबराकर दौड़ती हुई कोठरी में घुसी। सतीश ने जो पत्र मुझे भेजा था वह पत्र मैं वहीं छोड़ आई थी। शायद वही पत्र वे मेरे भाई को पढ़ने के लिये दे रहे थे। कुछ देर तो नीचे सन्नाटा रहा और मैं अपनी कोठरी में काँपती हुई औंधे मुँह पड़ी रही। मैं कह नहीं सकती उस समय मेरी मनोदशा कैसी थी। सतीश चला गया था। माँ के नीचे जाते ही सतीश चला गया था।

कुछ देर के बाद भैया ने भयंकर क्रोध से काँपते हुए स्वर में पुकारा—"विभा!" उनकी पुकार बन्द किवाड़ों को मानों चीरती हुई कमरे में घुसी और कमरे की दीवारों से टकराती हुई मेरे कानों के परदे पर इस तरह टकराई मानो किसी ने हथौड़े से प्रहार किया हो। मैं खाट से उठी; किन्तु आँखों के नीचे अन्धकार छा गया। मैं फर्श पर घूमकर गिरी। भैया की भयंकर आवाज फिर आई—"विभा!" इस बार मैं अपने को संभाल न सकी और उठकर फिर चक्कर खाकर गिरी। जिस तरह कूएँ में बोली जानेवाली आवाज बहुत देर तक गूँजती रहती है उसी तरह भैया की यह कर्कश आवाज बहुत देर तक मेरे अन्दर गूँजती रही। मैं अचेत हो गई।

उग्र हो रहे हैं भाई साहब! मैं क्षमा याचना करने आया हूँ। मुझे खाली हाथ न लौटाइये।"

भैया गरजकर कहने लगे—"यह क्षमायाचना भी शैतानों का ढोंग है। मैं तो अन्तिम निबटारा चाहता हूँ। मेरी बहन का विवाह आप से हुआ है और आप उसके सब कुछ हैं; किन्तु जब आपने एक अबला के जीवन को भार बना डाला है तो मेरा धर्म है कि मैं आपके जीवन को भार बना डालूँ।"

मैं रोती हुई माँ का हाथ पकड़कर बोली—"माँ, क्या यहाँ खूनखराबी होने देना तुम्हें पसन्द है? भैया को बुला ले नहीं तो मैं ही नीचे जाती हूँ।"

माँ ने भैया को फिर बुला पठाया; किन्तु उन्होंने बुलानेवाले छोकरे नौकर को एक तमाचा ऐसा खींचकर मारा कि वह चक्कर खाकर फर्श पर बैठ गया। मैं चीख उठी और जब नीचे उतरने के लिये दौड़ी तो माँ ने मुझे पकड़ लिया और वह स्वयम् धड़धड़ाती हुई नीचे चली गई।

माँ के नीचे जाते ही भैया का कंठ-स्वर सहसा नरम हो गया। उन्होंने माँ से कहा—"तू क्यों दौड़ी आई? यहाँ क्या कोई महाभारत हो रहा है?"

माँ ने कहा—"घर में घर के देवता आये हैं। गृह देवता के स्वागत का विधान नहीं है। आते ही तू ने दंगा-फसाद खड़ा कर दिया। चल ऊपर...चल, जल्दी कर।"

भैया ने कोई जवाब नहीं दिया तो मेरे पति ने मेरी माँ को प्रणाम करके कहा—"माँ, भाई साहब तो अकारण मेरा खून करने पर उतारू

भी अधिक दयनीय स्थिति में हूँ। बनमाली ने आत्महत्या करके अपना भार उतार फेंका। उसका सारा जीवन ही आहत हो गया था। ऐसे छिन्न-भिन्न जीवन को लेकर कैसे दुनिया में रहा जा सकता है! उसने आत्महत्या कर ली और इस तरह वह एक ही झटके में उछलकर उस पार हो गया। एक मैं हूँ जो नित्य कुढ़ता हूँ, झखता हूँ और उसी हाल पर बैठकर रात भर तारे गिनता हूँ। न तो झखने का अन्त है और न इन बेहूदे तारों का कि मन को आराम मिले, दिल को चैन मिले। कल अनुराधा ने अपने उस अभागे भाई को ठीक उसी तरह खदेड़ दिया जैसे कोई अवारा कुत्ते को खदेड़ देता है। वह पहले तो घबराया, फिर भले आदमी की तरह अपनी मैली दरी और चीकट तकिये का पुलिन्दा बना चलता बना। उसके जाने के बाद अनुराधा ने कसकर शृंगार किया और मुझे घर की रखवारी का भार देकर कहाँ चली गयी, सो पूछने का साहस भी मुझमें न था। जब वह रात बीते आयी तो हँसकर बोली—"बहुत बढ़िया तमाशा था। तुम चलते तो आनन्द आ जाता। फिर कभी चलना।"

मैं भीतर-ही-भीतर पजावे की तरह तप रहा था। उसकी इन बातों ने मेरे मन पर एक करारा घूँसा मारा। मैं बोला—"खैर, फिर कभी चलूँगा, किन्तु तुम्हें इस तरह घूमना नहीं चाहिये। बदनामी का भय तो मानो।"

अनुराधा मटककर बोली—"अहा! आप नाराज हो रहे हैं। अच्छा होता कि यह शासन आप अपनी रानीजी पर करते।"

मैं क्रोध से तिलमिला उठा, किन्तु शान्त भाव से बोला—"तुम्हारा यह सामयिक उपदेश शिरोधार्य है; किन्तु मैं अपने भले

सतीश

१४

मैं न तो भाग्य को मानता था और न तो भगवान को। किन्तु, अब तो यही जी चाहता है कि इन दोनों के नाम ले-लेकर इस जोर से चीखूँ कि मुरदे भी कफन फाड़कर उठ बैठें। मैं कह नहीं सकता कि ऐसा क्यों हुआ। यदि इसी क्यों का पता पाता तो फिर यह रोना क्यों था? घर से कुछ प्राप्त करने शहर की ओर दौड़ा आया। सोचा था कि डिग्री वगैरह हासिल करके ख्याति या गुमनामी जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी को लेकर जीवन के शेष ताना-बाना बुनना आरम्भ कर दूँ; किन्तु मुझे यहाँ आने पर मिली असफलता और मिला मनस्ताप।

अब इस मनस्ताप को लेकर शेष जीवन का कारोबार कैसे चलेगा, इसी सोच में मरा जा रहा हूँ। मरा क्या जा रहा हूँ, मरने में

भी अधिक दयनीय स्थिति में हूँ। बनमाली ने आत्महत्या करके अपना भार उतार फेंका। उसका सारा जीवन ही आहत हो गया था। ऐसे छिन्न-भिन्न जीवन को लेकर कैसे दुनिया में रहा जा सकता है! उसने आत्महत्या कर ली और इस तरह वह एक ही झटके में उछलकर उस पार हो गया। एक मैं हूँ जो नित्य कुढ़ता हूँ, झखता हूँ और उसी डाल पर बैठकर रात भर तारे गिनता हूँ। न तो झखने का अन्त है और न इन बेहूदे तारों का कि मन को आराम मिले, दिल को चैन मिले। कल अनुराधा ने अपने उस अभागे भाई को ठीक उसी तरह खदेड़ दिया जैसे कोई अवारा कुत्ते को खदेड़ देता है। वह पहले तो घबराया, फिर भले आदमी की तरह अपनी मैली दरी और चीकट तकिये का पुलिन्दा बना चलता बना। उसके जाने के बाद अनुराधा ने कसकर शृंगार किया और मुझे घर की रखवारी का भार देकर कहाँ चली गयी, सो पूछने का साहस भी मुझमें न था। जब वह रात बीते आयी तो हँसकर बोली—"बहुत बढ़िया तमाशा था। तुम चलते तो आनन्द आ जाता। फिर कभी चलना।"

मैं भीतर-ही-भीतर पजावे की तरह तप रहा था। उसकी इन बातों ने मेरे मन पर एक करारा घूँसा मारा। मैं बोला—"खैर, फिर कभी चलूँगा, किन्तु तुम्हें इस तरह घूमना नहीं चाहिये। बदनामी का भय तो मानो।"

अनुराधा मटककर बोली—"अहा! आप नाराज हो रहे हैं। अच्छा होता कि यह शासन आप अपनी रानीजी पर करते।"

मैं क्रोध से तिलमिला उठा, किन्तु शान्त भाव से बोला—"तुम्हारा यह सामयिक उपदेश शिरोधार्य है; किन्तु मैं अपने भले

के लिये नहीं, तुम्हारे लाभ के लिये ही निवेदन कर रहा हूँ।"

क्षण भर के लिये अनुराधा ठिठकी, पर फिर शोख की तरह बोली—"ऐसी बात तुम कभी नहीं कहते थे। मैं देखती हूँ, तुम मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते हो।"

इतना बोलते-बोलते उसका गला भर आया और वह पैर पटकती हुई रसोई घर को जाने लगी तो मैं बोला—"सन्देह की दृष्टि से देखने का मुझे कोई अधिकार नहीं है अनुराधा! मैं तुम्हें सदा से........।"

अनुराधा बड़ी तेजी से मुड़ी और बोली—"मैं अनाथा हूँ, इसीलिये मेरी ऐसी दशा हो रही है।"

इतना बोलकर वह अपने मृत पति का गुणानुवाद करती हुई रोने लगी और मैं अकचकाया-सा उसकी ओर देखने लगा। अब तो मनाने-समझाने का काण्ड शुरू हो गया। मैं उसे जितना ही मनाता, वह उतनी ही मचलती और रोती। आधी रात तक यही लीला होती रही। मैंने अपने शब्द वापिस लिये; यहाँ तक कि कौमा-सेमीकोलन तक वापिस लिया। किन्तु, अनुराधा का मान-भंग जब नहीं हुआ तो मैं अपने कमरे में आकर सो गया। लाचार क्या करता? भीम से जो अपराध हो चुका था, उसके लिये अपने हाथों से कान ऐंठता-ऐंठता मैं थक गया। रात भर मैं सो न सका। जब रात समाप्त हो रही थी, तो वह मेरे कमरे में आयी और कम्बल खींचती हुई बोली—"अब तो नाराजी का अन्त करो।"

मैं उठ बैठा और बोला—"मैं न तो कभी नाराज हुआ और न अब नाराज हूँ। शासन करने के लिये अब घर जाना मेरे लिए जरूरी है तो अब मैं रुक नहीं सकता। १० बजे दिन को जो गाड़ी जाती है,

उसी की राह देख रहा हूँ।" अनुराधा खाट के एक कोने पर बैठती हुई बोली—"यह कैसे हो सकता है ? जितना शासन तुम कर सकते हो करो। अब मैं एक शब्द भी नहीं बोलूँगी। न जाने उस समय मेरे सिर पर कौन-सा शैतान सवार था। मैंने जब अपनी गलती को समझ लिया तो फिर तुम क्षमा नहीं करोगे ?"

वह कुछ इस ढंग से बोली कि मेरा मन ढीला पड़ गया। उसका तनाव सहसा जाता रहा और मैं चुपचाप पड़ा रहा। मायाविनी अनुराधा की माया का जाल कुछ इतना गहन उस समय सिद्ध हुआ कि मैं फिर अपनी पुरानी धुरी पर घूमने लगा; किन्तु भीतर-भीतर जो विरक्ति पनप रही थी, उसे मैं नष्ट न कर सका। वह रह-रहकर मुझे धिक्कारती थी। किसी-किसी तरह एक मास समाप्त होते-न-होते फिर अनुराधा ने अपना रंग बदला। वह बाहर रहना अधिक पसन्द करने लगी और जब मैं पूछता तो वह तिनककर उत्तर देती। कभी किसी महामाननीया श्रीमतीजी का नाम ले लेती तो कभी किसी मैडम का। गरज यह कि मैं फिर उसके घर का दरबान बनकर दिन काटने को बाध्य हो गया। कभी वह मोटर पर लौटती तो कभी फिटन पर। यही हाल था उसका। एकाध बार जब कोई श्रीमतीजी पधारतीं भी, तो विलायती सेन्ट की महक बिखेरती हुई अपनी शानदार गाड़ी पर फिर जा बैठती। जब-जब ऐसी घटना होती, मैं नीचे के कमरे में बैठा रहता। बाहर मुँह नहीं दिखलाता या अनुराधा के आदेश से एकदम घर से बाहर हो जाता। इस तरह की जिन्दगी में कौन-सा सुख है, यह तो बतलाना कठिन है। किन्तु, जो बेहयाई मेरे बाँटे पड़ी थी, उसने मुझे सोचने-समझने से भी रहित कर दिया था। मानव में एक यह गुण भी होता है कि वह जैसी स्थिति में रहता है वैसा ही बन जाता है।

अनुराधा ने मुझे धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा दिया था जहाँ पहुँचकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, वह और ही कुछ बन जाता है। अनुराधा के बिना भी मैं रह नहीं सकता था और उसके साथ रहना भी कठिन था। मैं जिस तरह अपना जीवनयापन करता रहा, उसकी कल्पना भी कष्ट पहुँचाती थी। उस सर्पिनी ने मेरे मन-प्राण को अपनी कुंडली में इस तरह बाँध रक्खा था कि मैं हिल नहीं सकता था। जब मैं घर गया तो मेरी माँ ने कहा—"क्यों रे! तू जेल से छूटकर आ रहा है? शीशे में अपना मुँह तो देख।"

मैं लज्जा से पानी-पानी हो गया। बात स्पष्ट थी। पिछले छः महीनों में मैं एक बार भी दिल खोलकर नहीं हँसा और न एक बार भी अपने भीतर मैंने जीवन का अनुभव किया। रात-दिन कुढ़ते और झखते रहने का जो घातक प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ सकता था, वह स्पष्ट था। माँ की नजरों से बच्चे का स्वास्थ्य छिपाये नहीं छिप सकता। माँ तो केवल अपने लाल को हँसता-खेलता देखना चाहती है। और दूसरी लालसा तो उस देवी को छू भी नहीं सकती। न वह बच्चे की कमाई को देखती और न उसके रिजल्ट को। वह केवल अपने बच्चे को देखती है।

मैंने जब कोई उत्तर नहीं दिया तो वह बोली—"अब शहर को मैं झाड़ू मारूँगी। वकालत की परीक्षा समाप्त हो गयी। तू यहीं रह।"

इसके बाद पिताजी की ओर मुड़कर वह बोली—"तुम इस बच्चे की जान के गाहक हो। देखते नहीं, इसका चेहरा सूखकर काँटा हो गया है।"

पिताजी ने कहा—"परीक्षा की तैयारी में यही हाल होता है।"

माँ ने नाक पर उँगली रखकर आश्चर्य कहा—"दैया री! परीक्षा क्या है, जैसे मुसीबत है। अब तो परीक्षा का भूत उतर

गया न ! सोने-चाँदी के पहाड़ ढोकर तुम्हारे आगे धर देगा। बुढ़ौती में राज करना।"

मैं उठकर बाहर चला आया और बाहर से ही माताजी और पिताजी के शास्त्रार्थ सुनता रहा। दोनों ही हार मानना नहीं चाहते थे। जिस तरह पाठक अपनी पुस्तक का पृष्ठ आसानी से उलट देता है और दूसरी ओर की लिखी हुई बातों को पढ़ने में तन्मय हो जाता है, उसी तरह दिन का एक पृष्ठ जब अनायास ही उलट जाता है तो हम एक नई दुनिया को देखने में तन्मय हो जाते हैं। इन पृष्ठों का कहीं अन्त भी है या नहीं, यह कौन बतलावे ! मैं अपने घर पर तीन-चार मास रहा। मन में बेचैनी थी और बेकली। न तो शहर की ओर जाने का जी चाहता था और न एक क्षण भी घर पर मन लगता था। मेरी स्त्री जो पहले दुलहिन बनी हुई रहती थी, अब कुछ-कुछ गृहस्वामिनी के रूप में स्पष्ट होने लगी थी।

तारों से भरी एक नीरव रात को मैंने अपनी स्त्री से कहा—"अब मेरा जी नहीं लगता।"

वह कुछ नहीं बोली; किन्तु मैंने देखा कि उसका सुन्दर मुखड़ा विषाद से मलिन हो गया। वह अपनी भोली-भाली आँखों से मेरी ओर देखती रह गयी। मैंने फिर जब अपने विचार को दुहराया तो वह धीरे से बोली—"माँ कहती थीं कि आप को अब कहीं जाना नहीं होगा।"

माँ का आश्रय ग्रहण करके वह मेरे जाने के विचार को बदलवाना चाहती थी; किन्तु मेरा न जाना उसके लिये भी प्रिय था। वह अपने को, अपने मन को स्पष्ट होने देना नहीं चाहती थी। मैं उसकी इस गूढ़ सरलता और आत्मगोपनता पर मुग्ध तो हुआ; किन्तु

इतनी हल्की-शराब से मुझे तृप्ति कैसे होती जब कि मैं जलती हुई मदिरा का पान करने का अभ्यासी हो चुका था। अनुराधा का वह दुर्दान्त यौवन और उसका वह व्यग्र कर डालनेवाला लगाव तो भूलने की चीज नहीं थी। अनुराधा का छलकता हुआ स्नेह, जिसमें आत्म-विस्मृत कर डालने का अजेय बल था, मेरी स्त्री के इस गोपन भाव को मेरे मन से निकाल डालने में समर्थ था। मैं चाहता था कि अनुराधा न सही कोई भी हो; किन्तु जो हो, वह उसी की तरह हलाहल हो जिसे होठों में जैसे ही लगाऊँ आग की एक लकीर खींचता हुआ वह महाविष मेरे कलेजे को छेद डाले। यदि मेरी स्त्री मलयानिल थी, तो अनुराधा थी प्रलयंकरी आँधी। मैं बहुत दिनों तक उसी आँधी में घिरा रहा और जब उससे अलग हटकर मन्द मलयानिल के सिहरन का अनुभव करने लगा, तो मेरे मन की व्यग्रता और बढ़ गयी। मुझे तो वही आँधी चाहिये—वही हाहाकार करती हुई।

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे मेरी उदासी बढ़ती गयी और एक दिन मैं अपने को रोक नहीं सका। बिस्तर बाँधा और चलने को प्रस्तुत हो गया। माँ ने रोका और कमरे के बन्द दरवाजे के भीतर की सिसकियों ने भी रोका; किन्तु मेरे मन-प्राण को घेरकर अनुराधा की जो उन्मत्त तस्वीर रह-रह कर झलक जाती थी, वह मुझे टिकने नहीं देती थी।

होते तो मैं उस पत्र को चूम लेता। उस लिफाफे को अनुराधा ने अपने सुन्दर हाथों से स्पर्श किया होगा, जिन हाथों का स्पर्श मेरे सारे शरीर में बिजली की लहरें दौड़ा देता था। जी में तो आया कि जेब में पत्र रखकर चल पड़ूँ और रास्ते में ही उसे पढ़ूँ; किन्तु इतना धैर्य अपने में नहीं था मैं अपने कमरे में लौट गया और बहुत ही स्नेह से उस लिफाफे को खोला। सँभालकर ठीक तरीके से मुड़ा हुआ पत्र निकला। मैंने उसे व्यग्र आँखों से पढ़ना आरंभ किया :—

"सतीश बाबू!

आपको गये बहुत दिन हो गये। दुःख है कि नहीं आये। मैं आपको बहुत ढूँढ़ती रही। खैर, जो होना होता है वह होकर ही रहता है। आप शायद मि० जनार्दन को नहीं जानते। वह एक नये और उदीयमान वकील हैं। यहीं रहते हैं। विधि का विधान ऐसा है कि लाचार होकर मुझे उनका साथ जीवन-भर के लिये कर लेना पड़ा। सिविल मैरेज एक्ट के अनुसार हम दोनों एक हुए हैं। हमारा स्नेह कानून के अनुसार ही स्थिर रहेगा या हृदय के अनुसार, कह नहीं सकती। यह कहना नहीं होगा कि मेरी भूलों के लिये क्षमा कीजियेगा। जिस संकट में आपने मुझ अबला को सहारा दिया था, उसकी याद आते ही सिहर उठती हूँ।

जब शहर आइयेगा तो दर्शन भी दीजियेगा। आप मेरे पति से मिलकर निश्चय ही प्रसन्न होंगे। वे बहुत ही मिलनसार हैं और आपकी ही तरह हैं,......यही तो तोष है।

आशा है कि अपनी बहूरानी के साथ आप सुखी होंगे। इति।

आपकी—

अनुराधा

इस इति शब्द के साथ ही मुझे ऐसा लगा कि मेरे एक जीवन की इति हो गयी और आज से मेरा दूसरा जीवन आरंभ हुआ। एकाएक मैं चौंक उठा और पत्र को फाड़कर फर्श पर फेंक दिया। फिर, उन्मत्त की तरह कमरे से बाहर निकला। दोपहर की धूप फैली हुई थी और दिगन्त व्यापी खेतों में गेहूँ की फसल लहरा रही थी। मैं अपनी माँ के निकट पहुँचा जो कुढ़ी हुई-सी बैठी थी। मुझे देखते ही वह बोली—"तो तू नहीं मानेगा?"

मैं बोला—"अब जीवन भर शहर नहीं जाऊँगा। यदि तूने कभी जाने को कहा तो फिर लौटूँगा ही नहीं।"

माँ ने नाक पर हाथ रखकर कहा—"यह पढ़-लिखकर और गधा हो गया। यह तू अपने बाप से जाकर कह तेरी कमाई से थैले भरने के लिये वे ही व्याकुल रहते हैं।"

मैं बड़बड़ाता हुआ उस कमरे की ओर चला जिसमें मेरी स्त्री थी। उसने मेरी ओर अश्रुपूरित आँखों से केवल देखभर लिया।

उसकी इस दृष्टि में इतनी बातें थीं कि यदि उन सबको लिखने बैठूँ तो सैकड़ों साल का जीवन चाहिए।

अब आप मुझे क्षमा कर दें।

॥ इति ॥